हिन्दी-समिति-ग्रन्थमाला संख्या—१०

भारतीय दर्शन

लेखक

म० म० डा० उमेश मिश्र, एम० ए०; डी० लिट्०

उपकुलपति, कामेश्वर सिंह संस्कृत विश्वविद्यालय,

दरभङ्गा

हिन्दी समिति

सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश

लखनऊ

तृतीय संस्करण
१९७०

मूल्य
आठ रुपये
८.००

मुद्रक
नियो-ऑफसेट,
११९, स्वामी विवेकानन्द मार्ग, इलाहाबाद-३

प्रकाशकीय

दर्शन शास्त्र का विषय अतिशय व्यापक और गहन है। जीवन से संबंधित सैद्धान्तिक ज्ञान को दर्शन कहा जाता है। विचार-पद्धति में दृष्टिकोणों की विभिन्नता के कारण उनमें वैषम्य प्रतीत होता है किन्तु उन सब का उद्देश्य वस्तुतः एक ही है, और वह है परम तत्त्व की खोज। भारतीय दर्शन की यह विशेषता है कि वह जड़ से चेतन या सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता है। स्थूलतम सिद्धान्तों के पोषक भी जगत के तत्त्वों के विषय में दार्शनिक विचार आरम्भ कर चिन्मय जगत की ओर पहुँचते हैं और जड़ में चेतन का आभास पाते हैं।

महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र ने इस पुस्तक में भारतीय दर्शनों की विशद विवेचना की है। षड्दर्शन की सीमित संख्या को न मानकर उन्होंने कहा है कि दर्शनों की गणना और बड़ी हो सकती है। उन्होंने भारतीय दर्शन के दो मुख्य भेदों—नास्तिक और आस्तिक—पर विचार करते हुए चार्वाक, जैन, बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, सांख्य, योग, अद्वैत, शैव, वैष्णव आदि सभी दर्शनों को भली भाँति समझाने का प्रयत्न किया है। कारण यह है कि भारतीय दर्शन की सर्वांग विचार-धारा का सम्यक् अध्ययन किये बिना तत्संबंधी सूक्ष्म ज्ञान संभव नहीं हो सकता। डा० मिश्र की यह कृति संक्षेप में जिज्ञासुओं एवं अध्ययेताओं को संपूर्ण विषय का बोध करा देती है।

अतएव, हम इसे तीसरी बार प्रकाशित करते हुए विशेष हर्ष का अनुभव करते हैं। हमें विश्वास है कि जिज्ञासु पाठक इसके पुनः प्रकाशन से पहले की ही भाँति लाभान्वित होंगे।

लीलाधर शर्मा 'पर्वतीय'
सचिव, हिन्दी समिति

आमुख

अनन्तगुणसम्पन्नमखण्डं चिन्मयं शिवम् ।
जयदेवाख्यजनकं ध्यात्वा सूगाञ्च मातरम् ॥१॥
ज्ञाननिष्ठं परं नत्वा गोपीनाथगुरुं सदा ।
उमेशस्तनुते श्रेयो भारतीयं हि दर्शनम् ॥२॥

दर्शनशास्त्र बहुत ही कठिन विषय है। इसी में भारतवर्ष की मानसिक निधि सुरक्षित है। अनादि काल से ज्ञानियों ने इस निधि की खोज की है और समय-समय पर सुन्दर तथा बहुमूल्य रत्नों को इससे निकाल कर भारतवर्ष का गौरव बढ़ाया है। आज भी समस्त संसार में इसी बहुमूल्य दर्शनशास्त्र की विचारधारा के ही लिए भारतवर्ष का मस्तक ऊँचा है।

पढ़ने के समय से ही मेरे मन में दर्शनशास्त्र का शुद्ध भारतीय दृष्टिकोण से अध्ययन करने की तथा वैज्ञानिक दृष्टि से मनन करने की उत्कट अभिलाषा थी। पूज्य पितृचरण महामहोपाध्याय पण्डित जयदेव मिश्र तथा गुरुवर महामहोपाध्याय डाक्टर श्री गोपीनाथ कविराज जी के उपदेश एवं आशीर्वाद से वह अभिलाषा पूर्ण हुई। संस्कृत-भाषा में लिखे हुए दर्शनशास्त्र के आकर ग्रन्थों के आधार पर विशुद्ध भारतीय दार्शनिक भावना के अनुसार किसी भी भाषा में लिखे हुए उत्तम ग्रन्थ को न देखकर मन में खेद था, अतएव इस प्रकार के एक ग्रन्थ को लिखने की बहुत दिनों से उत्कट इच्छा थी। उत्तर-प्रदेश-शासन द्वारा आयोजित 'हिन्दी-प्रकाशन-योजना' के अधिकारियों की कृपा से आज वह इच्छा कार्यरूप में परिणत हुई। इससे मुझे बहुत सन्तोष है। इसके लिए मैं उन अधिकारियों के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

भारतीय दर्शन के तत्त्व बहुत गूढ़ हैं। जिस प्रकार 'जीवन' को समझने के लिए उसके सभी अंगों का व्यष्टि, समष्टि एवं समन्वय-रूप में (synthetically) ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होता है, उसी प्रकार भारतीय दर्शनों को व्यष्टि तथा समष्टि एवं समन्वय-रूप में समझना नितान्त आवश्यक है। इनके अनुभवों

को पृथक्-पृथक् टुकड़े-टुकड़े कर देने से 'आत्मा' का पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता और न तो इसमें कोई आनन्द ही मिल सकता है। अतएव सभी दर्शनों का व्यष्टि तथा समष्टि एवं समन्वय-रूप में अध्ययन करना आवश्यक है।

उपर्युक्त कार्य को सम्पादित करने के लिए सैद्धान्तिक रूप में कुछ बातों को प्रारम्भिक अवस्था में जिज्ञासु को स्वीकार कर लेना आवश्यक है। पूर्ण ज्ञान प्राप्त होने पर इन सैद्धान्तिक प्रतिज्ञा-वाक्यों (premisses) का समाधान स्वयं हो जाता है—

(१) **वट-बीज-न्याय** की तरह संसार और कर्म की गति में अनादि सम्बन्ध है। ये दोनों स्वयं अनादि हैं।

(२) कर्म के बिना एक क्षण के लिए भी कोई नहीं रह सकता।

(३) कर्म करने वाले को कायिक, वाचिक तथा मानसिक, अपने प्रत्येक कर्म का, किसी न किसी रूप में, भोग करना ही पड़ता है। इन भोगों के लिए एक या अनेक जन्म लेने पड़ते हैं।

(४) 'जीवन' तथा 'दर्शन', इन दोनों का चरम लक्ष्य एक ही है। उस परम तत्त्व की प्राप्ति के लिए 'दर्शन' **सैद्धान्तिक** तथा 'जीवन' **व्यावहारिक** रूप है। दोनों में परस्पर एक घनिष्ठ सम्बन्ध है, जिसको समझने से आनन्द प्राप्त होता है।

(५) 'कारण' के बिना छोटी से छोटी भी घटना नहीं होती। हाँ, 'कारण' का ज्ञान सबको सदा न होना स्वाभाविक है।

(६) 'आप्तवचन' या 'आगम' को आधाररूप में विचार के लिए मान लेना चाहिए।

इस पुस्तक में भारतीय दर्शन की निम्नलिखित विशेषताएँ दिखायी गयी हैं—

(१) इस ग्रंथ के सभी अंश दर्शनशास्त्र के संस्कृतभाषा में लिखे हुए आकर **ग्रन्थों के आधार पर लिखे** गये हैं।

(२) भारतीय दर्शनों में परस्पर कहीं भी विरोध नहीं है। **सभी दर्शनों में समन्वय अर्थात् सामञ्जस्य** है। एक ही सूत्र में सब दर्शन बँधे हुए हैं। ज्ञान के तथा बाह्य-जगत् के क्रमिक विकास के साथ-साथ दर्शनशास्त्र

का भी विकास हुआ है। उस विकास के क्रम को दार्शनिक विचारों के द्वारा इस ग्रन्थ में दिखाने का प्रयत्न किया गया है।

(३) भारतीय **जीवन** तथा भारतीय **दर्शन** में **सर्वथा ऐक्य** है—एक **व्यावहारिक** है, दूसरा **सैद्धान्तिक** है।

(४) **सभी दर्शन एक ही उद्देश्य से**, अर्थात् दुःख की चरम निवृत्ति या परमानन्द की प्राप्ति के लिए, प्रवृत्त होते हैं, अतएव एक ही मार्ग के सभी पथिक हैं।

(५) प्रत्येक दर्शन इसी दर्शन-मार्ग का एक-एक विश्राम-स्थान है। प्रत्येक विश्राम-स्थान से स्वतन्त्र रूप में परम तत्त्व की खोज की गयी है। अतएव एक दर्शन दूसरे दर्शन से भिन्न भी है। दृष्टिकोण के भेद से परस्पर भेद होना स्वाभाविक है, किन्तु परस्पर इनमें वैमनस्य नहीं है। सोपान की परम्परा में एक आगे है और एक पीछे। भेद तो स्थूल दृष्टिवालों के ही लिए है।

(६) बहुत-से लोगों की धारणा है कि भारतीय दर्शन के केवल छः विभाग हैं, इसी लिए दर्शनों की संख्या के विचार के समय **'षड्दर्शन'** शब्द का प्रयोग किया जाता है। परन्तु यह धारणा निर्मूल है। ये छः दर्शन कौन-से हैं इसमें विद्वानों का एक मत नहीं है। प्राचीन काल से ही विद्वानों ने दर्शन की छः से कहीं अधिक संख्या का भी पूर्ण विचार किया है और कहीं छः से कम संख्या भी स्वीकार की है। वस्तुतः चरम लक्ष्य को ध्यान में रखकर मूढ़तम अवस्था से आरम्भ कर, ज्ञान के विकास के क्रम के अनुसार विचार करने से, यह स्पष्ट मालूम होगा कि दर्शनों की संख्या सीमित नहीं है, और न हो ही सकती है। लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रत्येक सर्वांगपूर्ण विचारधारा ही एक 'दर्शन' है जो अपने-अपने विश्राम-स्थान में सर्वथा एक दूसरे से भिन्न है।

(७) मूढ़दृष्टि वाले स्थूलतम भौतिक सिद्धान्तों को मानने वाले जिज्ञासु को, स्थूल जगत् के तत्त्वों के संबंध में दार्शनिक विचार आरम्भ कर, चिन्मय जगत् में पहुँच कर, स्थूल जगत् में जो जड़ था उसे भी सूक्ष्म जगत् में चेतन देखकर, भारतीय दर्शन की पूर्णता का स्पष्ट परिचय मिलता है। **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**, **'एकमेवाद्वितीयं नेह नानास्ति किञ्चन'**, इन श्रुतिवाक्यों का साक्षात् अनुभव इन दर्शनों के अध्ययन से होता है।

यही भारतीय दर्शन की **पूर्णता** या **अखण्डत्व** तथा **सामरस्य** है और अद्वैतवाद का स्वरूप है।

(८) भारतीय दार्शनिक तत्त्वों को विकसित करने में सभी दर्शन प्रयत्नशील हैं। अपने-अपने स्थान से तत्त्वों का विचार सबने किया है। अपने विचारों को अपने स्थान में सुदृढ़ रखने के लिए तथा जिज्ञासु को अपने तत्त्वों का विशुद्ध परिचय देने के लिए, दर्शनों में परस्पर खण्डन-मण्डन देख पड़ता है, न कि किसी द्वेष-बुद्धि से। अतएव प्रत्येक दर्शन के दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर ही उसका अध्ययन करना उचित है। अध्ययन के समय में एक ही दार्शनिक विचारधारा पर ध्यान रखना आवश्यक है, अन्यथा दृष्टि के विक्षिप्त हो जाने पर कोई भी दर्शन समझ में नहीं आयेगा।

(९) आजकल आरम्भ से ही तुलनात्मक अध्ययन की परिपाटी चल पड़ी है। इसके सम्बन्ध में मेरा निवेदन है कि तुलनात्मक अध्ययन के लिए सबसे प्रथम आवश्यक है कि जिनसे जिनकी तुलना की जाती है, उनके सिद्धान्तों को स्वतन्त्र एवं विशुद्ध स्वरूप में पृथक्-पृथक् जान लेना चाहिए, जिससे तुलना करने के समय में किसी के मत को स्पष्ट करने में पहले भ्रान्ति न हो जाय। इसलिए मैंने इस ग्रन्थ में प्रत्येक दर्शन के विशुद्ध रूप को स्पष्ट करने का ही केवल प्रयत्न किया है। प्रत्येक परिच्छेद के आदि और अंत में प्रत्येक दर्शन में परस्पर सम्बन्ध दिखाने के लिए कहीं-कहीं साधारण रूप से तुलनात्मक विचार भी किया गया है, किन्तु वास्तविक तुलना पूर्ण रूप से पश्चात् की जायगी। अभी तो प्रत्येक दर्शन के दृष्टिकोण को लोग अच्छी तरह समझें, इस विचार से ही यह ग्रन्थ लिखा गया है।

'आत्मा' को देखने का प्रयत्न करते हुए ऋषियों ने अपने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न समय में उपासना के द्वारा प्राप्त अपने-अपने अनुभवों को शब्द के द्वारा नियमबद्ध किये। उन अनुभवों को उनके विषय के अनुसार संकलित कर और उन्हें भिन्न भिन्न नाम देकर, आचार्यों ने भिन्न-भिन्न दर्शनों को प्रवर्तित किया। इन दर्शनों की संख्या अनियत है और अनन्त हो सकती है।

'आत्मा' तथा उसके 'गुणों' के क्रमिक विकास के अनुसार क्रमबद्ध एक शृङ्खला में, गोपुच्छाकार सूत्रबद्ध 'जपमाला' के समान, उन विकसित रूपों को, गूँथ कर

इस ग्रन्थ में रखने का प्रयत्न किया गया है। जिज्ञासुओं को 'आत्मदर्शन' की खोज में, जो उनका परम ध्येय है, इस प्रणाली से अग्रसर होने में सौकर्य प्राप्त होगा और उत्साह बढ़ेगा।

दर्शनों को इस सोपान-परम्परा में संकलित देखकर जिज्ञासु को यह कभी नहीं समझ लेना उचित है कि इसी सोपान-परम्परा में इन दर्शनों की अभिव्यक्ति हुई है। 'आत्मदर्शन' के क्रमिक विकसित रूप को ध्यान में रखकर लक्ष्य तक पहुँचने के लिए जिज्ञासु के सौकर्य के लिए ही, दर्शनों को इस सोपान-परम्परा में यहाँ रखने का प्रयत्न किया गया है।

दर्शनशास्त्र बहुत व्यापक और गम्भीर विषय है। आत्मा या गुरुजनों के अनुग्रह से ही दर्शनों के चरम लक्ष्य का दर्शन या ज्ञान हो सकता है, तथापि साधारण रूप से इसको समझने तथा दूसरों को लिखकर समझाने के लिए पर्याप्त साधन और समय की अपेक्षा होती है। इसलिए यह ग्रन्थ अनेक अंशों में अपूर्ण है। इसके लिए हम क्षमा-प्रार्थी हैं।

गुरुजनों के अनुग्रह से साक्षात् स्वानुभव से जो कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ है उसके आधार पर दार्शनिक तत्त्वों का विचार करने में मैंने कहीं-कहीं निष्पक्ष दृष्टि तथा विशुद्ध हृदय से दार्शनिकों के विचारों की समालोचना की है, कुछ अभिनव बातों की भी खोज की है, जिन्हें हमने तथ्य समझा है। विद्वानों से विनीत प्रार्थना है कि आवेश में आकर प्राचीन परम्परा को ही एकमात्र मापदण्ड समझ कर मेरे प्रयत्न को तिरस्कृत न करें। स्वस्थ चित्त से, तत्त्वैकमात्रदृष्टि से, विचार करें, तथापि यदि दोष हो, तो मुझपर अनुग्रह कर सूचित करें। मनुष्य की कृति में दोष होना तो स्वाभाविक ही है।

इति शम्

'तीरभुक्ति' **उमेश मिश्र**

प्रयाग

सं० २०१४ वि०

दूसरे संस्करण

की

भूमिका

आज मुझे बहुत ही हर्ष है कि इस पुस्तक का द्वितीय संस्करण अपेक्षित है। जिज्ञासु पाठकों को, विशेष कर विद्यार्थियों को इस ग्रन्थ से लाभ हुआ, आनन्द हुआ, उन्होंने इसे आदर दिया, यह जानकर मुझे बहुत सन्तोष है। इसके लिए मैं सभी का कृतज्ञ हूँ।

भारतीय दर्शन जीवन, धर्म तथा ज्ञान के चरम लक्ष्य को साक्षात् चक्षु से ही दिखाने का एकमात्र साधन है। वस्तुतः प्रत्यक्ष ही एकमात्र तत्त्व को दिखा सकता है और अन्य प्रमाण तो केवल व्यावहारिक साधन हैं। इसी लिए प्रत्यक्ष को ही सभी प्रमाणों का मूल समझना उचित है। अतएव भर्तृहरि ने भी कहा है–**'आगतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते'**। भूत और भविष्य सभी प्रत्यक्ष ही हैं। जो अभी प्रत्यक्ष है वही एक क्षण के पश्चात् भूत हो जाता है और वही पुनः कालचक्र में पड़कर भविष्य होकर पुनः प्रत्यक्ष-कोटि में आता है। यह कालचक्र अनादि है और इसी पर सभी ज्ञान आश्रित हैं।

अनेक दृष्टिकोण से तथा इस मध्य जो कुछ गुरुकृपा से अनुभव प्राप्त हुआ है उसके आधार पर इस ग्रन्थ में अनेक स्थलों में परिवर्धन तथा संशोधन मैंने किया है। आशा है, पाठकों को इनसे अधिक लाभ होगा। इति शम्।

उपकुलपतिभवन,
संस्कृत विश्वविद्यालय,
दरभङ्गा
व्यासपूर्णिमा, १८८४ शकाब्द

उमेश मिश्र

विषय-सूची

प्रथम परिच्छेद

भारतीय दर्शन का स्वरूप १

दार्शनिक विचार के लिए उपयुक्त देश, ३; दार्शनिक वातावरण का प्रभाव, ४; जीव की बहिर्मुखी प्रवृत्ति, ५; अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की आवश्यकता, ५; **दर्शन की परिभाषा, ५**—दर्शन शब्द का अर्थ, ५; **दर्शन का प्रधान लक्ष्य, ६**—जीवन दुखःमय है, ६; जीवन का चरमलक्ष्य, ७; जीवन और दर्शन का सम्बन्ध, ७; **परम-तत्त्व को देखने का उपाय, ९**—दुःखनाश के साधन, ९; परम तत्त्व के साक्षात्कार से मुक्ति, १०; तर्क की आवश्यकता, ११; **अधिकारी बनने की आवश्यकता, ११**—अधिकारी को ज्ञान या परमानन्द की प्राप्ति, ११; **आक्षेप और उनका परिहार, १२**—भारतीय दर्शन का लक्ष्य, १२; अन्धविश्वास, १३; तत्त्वों का साक्षात् अनुभव, १४; भारतीय दर्शन की प्रगतिशीलता, १४; **दर्शनों का वर्गीकरण, १४**—दर्शनशास्त्र का स्वरूप, १४; दर्शनों में समन्वय, १५; उपनिषदों की विशेषता, १५; दर्शनों के वर्गीकरण की आवश्यकता, १५; प्रतिपक्षियों के कारण वर्गीकरण, १६; उपनिषदों के पूर्व का वर्गीकरण, १६; दर्शनों की संख्या, १७; दर्शनों की संख्या-परम्परा, १७; दर्शनसंख्या का नियम, १८; **दर्शनों में परस्पर सम्बन्ध, १८**—दर्शनों में समन्वय, १८; दर्शनों में क्रम, १९; दर्शनों में सापेक्षता, १९; दर्शनों में दृष्टिकोण के भेद से भेद, १९; चार्वाक-भूमि, २०; समन्वय दृष्टि से भारतीय दर्शनों का ज्ञान, २१; न्याय-वैशेषिकभूमि, २१; सांख्य-भूमि, २२; शांकर-वेदान्तभूमि, २३; काश्मीरीय शैवदर्शन-भूमि, २४।

द्वितीय परिच्छेद

वेद में दार्शनिक विचार २७

उपक्रम, २७; प्राचीनतम प्रमाण, २७; शब्द की अवस्थाएँ, २८ ; वेद दर्शन-ग्रन्थ नहीं, २८; कर्म या उपासना दर्शन का अंग, २८; वेद मन्त्रों के ऋषि

और देवता, २९; वेदों का नामकरण, २९; एक ही वेद से चार वेद, ३०; ऋग्वेद के मन्त्रों में चारों वेदों के नाम, ३१; अधिकार-भेद का विचार ३१; अभय-ज्योति-रूप में आत्मा की खोज, ३२; ज्ञान के लिए आत्मसमर्पण, ३२; ज्ञान के लिए अभिमान का परित्याग, ३३; परम सुख की प्राप्ति का साधन, ३३; वेद में सृष्टि का विचार, ३४; वेद में एक व्यापक शक्ति, ३५-३६; वेद का विषय, ३७; **आचार का निरूपण, ३७**—वेद में सदाचारपालन, ३७; **कर्मवाद, ३८**—पुण्य और पाप, ३९; वेद में कर्मगति की चर्चा, ३९; कर्मवाद का उल्लेख, ३९; कर्मफल, ४०; दूसरे के किये हुए कर्मों का भोग, ४०; दर्शन की विचारधारा, ४१; **देवता को ही आत्मा समझना, ४१**—उपासना से दुःख-निवृत्ति, ४१; ब्राह्मण तथा आरण्यक, ४२; साधक की अतृप्ति, ४२; 'एक' की खोज, ४३; यज्ञ और विष्णु का अभेद, ४३; 'ब्रह्म-भावना' का उदय, ४३; ब्राह्मणग्रन्थ में 'ब्रह्म' और 'आत्मा', ४३; आरण्यक में ब्रह्म की भावना, ४४; वेदान्त के ब्रह्म की भावना, ४४; आत्म-भावना का उदय, ४४; ब्रह्म और आत्मा का अभेद, ४५; ज्ञान के विकास के साथ आत्मभावना का उदय, ४६; ब्राह्मण तथा आरण्यक में सृष्टि-विचार, ४६; मनुष्य में ही आत्मा की अभिव्यक्ति, ४६; आरण्यक में 'पाकज-प्रक्रिया', ४७; आचारपालन का निर्देश, ४७; **उपनिषदों में दार्शनिक विचार, ४७**—उपासना दर्शन का अंग, ४८; वैदिक मन्त्रों के विभाग, ४८; उपनिषद् की विशेषता, ४८; 'अभेद' की साक्षात् अनुभूति, ४८; उपनिषद् शब्द का अर्थ, ४९; अविद्यानाश के उपाय, ४९; शिष्यों की शंकाओं की निवृत्ति, ४९; उपनिषद् में तत्त्वविचार, ५०; सभी दर्शनों का मूल, ५०; अधिकार-भेद का विचार, ५०; उपनिषदों का ध्येय, ५१; **उपनिषदों का वर्गीकरण, ५१**—वेदों की परम्परा, ५१; वेदों के उपनिषद्, ५२; ईश, ५२; केन, ५२; कठ, ५२; प्रश्न, ५३; मुण्ड, ५३; माण्डूक्य, ५३; गौडपाद-कारिका, ५३; तैत्तिरीय, ५४; ऐतरेय, ५४; छान्दोग्य, ५४; बृहदारण्यक, ५५; **उपनिषदों का रचनाकाल, ५५**—उपनिषद्-काल, ५५; महाभारत से पूर्व उपनिषदों की रचना, ५६; श्रुतियों का लिपिबद्ध होना, ५६; **उपनिषद् के विषय, ५७**—दार्शनिक सूत्रों का मूल, ५७; उपनिषद् का मुख्य विषय, ५७; आत्मा सब से प्रिय तत्त्व, ५८; आत्मा का स्वरूप, ५८; ब्रह्म के रूप, ५९; जीवात्मा का स्वरूप, ५९; स्वप्नावस्था, ५९; मरणकाल में जीव का स्वरूप, ६०; वासना से दूसरे जन्म का निर्णय, ६०; कर्मानुसार भविष्य जीवन, ६०; जीवन्मुक्ति,

६०; उपनिषद् में सृष्टि-प्रक्रिया, ६१; उपनिषद् में कर्म-विचार, ६१; आत्मसाक्षात्कार के उपाय, ६१; योगाभ्यास की अपेक्षा, ६२; आत्मज्ञान की अनुभूति-प्रक्रिया, ६२।

तृतीय परिच्छेद

भगवद्गीता में दार्शनिक विचार ६४

उपक्रम, ६४; अर्जुन का अभिमान, ६४; अर्जुन का मोह और आत्म-समर्पण, ६४; अर्जुन की विरक्ति, ६५; भगवान् का उपदेश, ६५; ज्ञान और कर्म का उपदेश, ६५; उपनिषद् और गीता, ६६; गीता का महत्त्व, ६६; महाभारत का महत्त्व, ६७; महाभारत का रचनाकाल, ६७; **गीता के प्रति आक्षेप, ६७**—गीता-ग्रंथ, ६७; आक्षेपों के समाधान, ६८; अर्जुन की याचना, ६८; युद्ध-क्षेत्र में ही गीता का उपदेश, ६८; कृष्ण की महिमा का ज्ञान, ६९; भगवान् की प्रतिज्ञा, ६९; उपदेश ग्रहण करने की योग्यता ७०; आत्मोपदेश के लिए उचित स्थान, ७०; उपदेश के लिए सुअवसर, ७०; उपदेश के लिए समय, ७०; **गीता के मुख्य उपदेश, ७१**—कर्त्तव्यपालन, ७१; वस्तु का नाश नहीं होता, ७१; अनासक्त कर्म, ७१; भक्ति और भक्त की महिमा, ७२; साधक के कर्त्तव्य, ७३; भगवान् का स्मरण, ७३; शोक-मोह की निवृत्ति, ७३; योगाभ्यास की आवश्यकता, ७४; निष्काम कर्म की महिमा, ७४; **मुक्ति की अवस्था, ७५**—उचित और अनुचित कर्म, ७५; परागति, ७५; अपरागति, ७५; पारगति के भेद, ७६; जीवन्मुक्ति, ७६; **पदार्थों का विचार, ७६**; तीन प्रकार के तत्त्व, ७६; अपरा प्रकृति, ७७; परा प्रकृति, ७७; जीव और भगवान् में भेद, ७७; 'माया' भगवान् की शक्ति है, ७८; दिव्यरूप, ७९; अवतार का उद्देश्य, ७९; अवतार के लिए दो वस्तुओं की आवश्यकता, ७९; भगवान् के कर्म करने का लक्ष्य, ८०; भगवान् के कर्म, ८०; गीता का अद्वैत-तत्त्व, ८०; वासुदेव-तत्त्व, ८०; वर्णाश्रमधर्म, ८१; गीता वैष्णवों का आगम, ८१।

चतुर्थ परिच्छेद

चार्वाक-दर्शन ८२

उपक्रम, ८२; रुचि के अनुसार आत्मा का ज्ञान, ८२; ज्ञान में परिवर्तन, ८२; अतिस्थूल दृष्टि, ८३; मत के प्रवर्तक, ८३; चार्वाक मत का आरम्भ, ८३;

प्राचीन रूप, ८३; कालवाद, ८४; स्वभाववाद, ८४; 'स्वभाव' की व्यापकता, ८४; नियतिवाद, ८५; यदृच्छावाद, ८५; रामायण और महाभारत में भौतिकवाद, ८५; **साहित्य, ८६**—बृहस्पति के सूत्र, ८६; **तत्त्वों का विचार, ८७**—प्रमेय-विचार, ८७; आवरण का अभाव—'आकाश', ८८; प्रमाण, ८८; प्रत्यक्ष के भेद, ८८; मतखण्डन का अभिप्राय, ८८; प्रत्यक्ष-प्रमाण, ८९; प्रमाणों का आधार, ८९; **उत्पत्ति की प्रक्रिया, ८९**—स्रष्टा या ईश्वर, ८९; संयोग तथा समवाय, ९०; चैतन्य और जीवन की उत्पत्ति, ९०; संस्कार के द्वारा स्मृति, ९०; आचार-विचार, ९०; नास्तिक, ९०; स्वर्ग और नरक, ९१; जीवनसुख, ९१; **आत्मा का विचार, ९१**—आत्मा की खोज, ९२; आत्मा का स्वरूप, ९२; आगम, तर्क तथा अनुभव, ९२; धन ही आत्मा, ९२; पुत्र ही आत्मा, ९३; देहात्मवाद, ९३; इन्द्रियात्मवाद, ९३; प्राणात्मवाद, ९४; आत्ममनोवाद, ९४; आलोचन, ९५।

पञ्चम परिच्छेद

जैन-दर्शन ९७

ज्ञान के विकास में जैन-दर्शन का स्थान, ९७; आस्तिक दर्शनों के साथ सादृश्य, ९८; **जैन-सिद्धान्त के प्रवर्तक, ९८**—महावीर से पूर्व का समय, ९८; आचार्य-परम्परा, ९८; महावीर, ९९; महावीर के उपदेश, ९९; पाँच व्रत, ९९; गुण-स्थान, १००; तीर्थंकर, १०१; गणधर, १०२; महावीर की शिष्य-परम्परा, १०२; श्वेताम्बर और दिगम्बर, १०२; **श्वेताम्बर तथा दिगम्बर जैनों में परस्पर भेद, १०२; साहित्य, १०४**—श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के आगम, १०५; पुव्व, १०५; उपांग, १०५; प्रकीर्ण, १०५; छेदसूत्र, १०५; मूलसूत्र, १०५; चूलिकसूत्र, १०५; **दार्शनिक तथा उनके ग्रन्थ, १०५**—श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के आचार्य, १०५; भद्रबाहु (प्रथम), १०५; उमास्वाती, १०६; कुन्दकुन्दाचार्य, १०६; सिद्धसेनदिवाकर, १०६; सिद्धसेनगणि, १०६; हरिभद्रसूरि, १०६; मल्लिषेणसूरि, १०६; मलधारि राजशेखरसूरि, १०७; **दिगम्बरसम्प्रदाय के आचार्य, १०७**—ज्ञानचन्द्र, १०७; गुणरत्नसूरि, १०७; यशोविजयगणि, १०७; कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्र, अकलंकदेव, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दिन, प्रभाचन्द्र, अमृतचन्द्रसूरि, देवसेन

भट्टारक, लघुसमन्तभद्र, अनन्तवीर्य, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, श्रुतसागरगणि, धर्मभूषण, यशोविजयसूरि, १०७; **तत्त्वों का विचार, १०७**—जीवतत्त्व, १०८; जीव का स्वरूप, १०८; जीव के गुण, १०८; प्रतिक्षण परिणाम, १०९; पर्याय, ११०; अनेकान्तवाद, ११०; जीव के भेद, ११०; अजीव-तत्त्व, १११; अजीव-तत्त्व के भेद, १११; अजीव-तत्त्व के गुण, १११; धर्मास्तिकाय, १११; अधर्मास्तिकाय, ११२; आकाशास्तिकाय, ११२; पुद्गलास्तिकाय, ११२; 'शब्द' आकाश का गुण नहीं, ११३; अस्तिकाय द्रव्यों में साधर्म्य और वैधर्म्य, ११३; काल, ११४; आस्रवतत्त्व, ११४; आस्रव का स्वरूप, ११५; आस्रव के भेद, ११५; बन्धतत्त्व, ११५; बन्ध का स्वरूप, ११५; संवरतत्त्व, ११६; संवर का स्वरूप, ११६; संवर के भेद, ११६; समितियाँ, ११६; गुप्तियाँ, ११६; व्रत, ११७; धर्म, ११७; अनुप्रेक्षाएँ, ११७; परीषह, ११७; परीषह के भेद ११८; चारित्र के भेद, ११८; निर्जरातत्त्व, ११८; निर्जरा का अर्थ, ११८; निर्जरा की प्राप्ति, ११८; निर्जरा के भेद, ११९; तपस्या के भेद, ११९; मोक्षतत्त्व, ११९; मोक्ष के भेद, ११९; **प्रमाणविचार, १२०**; दर्शन-ज्ञान के भेद, १२०; साकार-ज्ञान के भेद, १२०; प्रमाण, १२०; प्रमाण का लक्षण, १२१; प्रमाण के भेद, १२१; प्रत्यक्ष-प्रमाण, १२१; प्रत्यक्ष के भेद, १२१; मतिज्ञान, १२२; अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, १२२; श्रुतज्ञान, १२२; मति और श्रुति में भेद, १२२; पारमार्थिक प्रत्यक्ष के भेद, १२३; केवलज्ञान, विकलज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान, १२३; परोक्ष-प्रमाण, १२४; अनुमान-प्रमाण, १२४; **पञ्चावयव** परार्थानुमान, १२४; प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय, १२४,; निगमन, १२५; **दशावयव** परार्थानुमान, १२५; प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञा-विभक्ति, हेतु, हेतु-विभक्ति, विपक्ष, विपक्ष-प्रतिषेध, दृष्टान्त, आशंका, १२५; आशंका-प्रतिषेध, १२६; निगमन; हेत्वाभास, १२६; पक्षाभास, १२६; हेत्वाभास, असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, १२६; दृष्टान्ताभास, १२७; दूषणाभास, १२७; शब्द-प्रमाण, १२७; **नय, १२७**—यथार्थज्ञान और नय, १२७; नय के भेद, १२८; कर्मवाद, १२८; जीव और कर्म का सम्पर्क, १२८; स्याद्वाद या अनेकान्तवाद, १२९; सत् का स्वरूप, १२९; परिणामिनित्यत्ववाद, १२९; सप्तभंगीनय का उदाहरण, १३०; **आलोचन, १३१**—आत्मा अवयवी है, १३२; अभेद में भेद, १३२; आचार के अव्यावहारिक नियम, १३२; आचार-मापक तत्त्व, १३३।

षष्ठ परिच्छेद

१३४

बौद्ध-दर्शन

आचार-शास्त्र, १३४; गौतम की जन्म-कथा, १३४; गृह-त्याग, १३५; बुद्धत्व की प्राप्ति, १३५; लोक-कल्याण, १३५; आर्य-सत्य, १३६; व्यावहारिकता से कल्याण, १३६; दुःख की कारण-परम्परा, १३७; प्रतीत्यसमुत्पाद, १३७; अष्टांग-मार्ग, १३९; बुद्धत्व-प्राप्ति के पूर्व की अवस्थाएँ, १३९; श्रावकपद, १४०; प्रत्येकबुद्ध, १४०; बोधिसत्त्व, १४१; संघ के नियम, १४१; बुद्ध के उपदेश, १४१; अधिकारभेद के विचार का अभाव, १४२; **पाली भाषा में बौद्ध-साहित्य, १४३**—विनयपिटक, १४३; सुत्तपिटक, १४३; पाँच निकाय, १४३; अभिधम्मपिटक, १४४; **बौद्धमत के विभाग १४४**—प्राचीन बौद्ध-सम्प्रदाय, १४४; स्थाविरवाद के भेद, १४४; महासांघिक के भेद, १४५; महायान और हीनयान, १४५; महायान और हीनयान के भेद, १४५; हीनयान की चार भूमियाँ, १४६; महायान की दश भूमियाँ, १४६; आध्यात्मिक विचार की परम्परा, १४७; बौद्धों का आस्तिकों से भेद, १४८; **बौद्धमत के सम्प्रदाय १४९**—वैभाषिक मत १४९; सौत्रान्तिक मत, १५०; योगाचार या विज्ञानवाद, १५०; माध्यमिक या शून्यवाद, १५०।

हीनयान-सम्प्रदाय—१. वैभाषिक मत—साहित्य, तत्त्वविचार, १५१; स्कन्धों का विवेचन, १५२; आयतनों का निरूपण, १५२; धर्म का स्वरूप, १५२; धातुओं का निरूपण, १५३; धर्मों के भेद, १५३; जगत् का विषयगत विभाग, १५३; असंस्कृत धर्म, १५३; असंस्कृत धर्म के भेद, १५४; प्रतिसंख्यानिरोध, १५४; अप्रतिसंख्यानिरोध, १५४; आकाश, १५४; संस्कृत धर्म के भेद, १५४; रूप-चित्त-चैतसिक-चित्तविप्रप्रयुक्त, १५५-५६; निर्वाण, १५६; प्रमाण, १५६; प्रत्यक्ष १५६; प्रत्यक्ष के भेद, १५६; प्रत्यक्ष का विषय, १५७; अनुमान के भेद, १५७; स्वार्थनुमान, १५७-५८; परार्थानुमान और उसके भेद, १५८-५९; हेत्वाभास और उसके भेद, १५९-१६०; अनुभव और अनुभव के भेद, १६०; ज्ञान की प्रक्रिया, १६०; इन्द्रियों का सन्निकर्ष, १६०; आलोचन (वैभाषिक मत) १६०।

२. सौत्रान्तिक मत—अन्तर्जगत् में प्रवेश, १६१; सौत्रान्तिक मत के आचार्य, १६२; तत्त्वविचार, १६२; निर्वाण का स्वरूप, १६२; शब्द,

१६२; कार्यकारणभाव, १६२; काल, १६२; ज्ञान, १६२; परमाणु, १६२; प्रतिसंख्यानिरोध, १६३; अप्रतिसंख्यानिरोध, १६३।

महायान-सम्प्रदाय—१. योगाचार या विज्ञानवाद, १६३—योगाचार का स्वरूप, १६३; साहित्य, १६४—मैत्रेयनाथ, असंग, वसुबन्धु, स्थिरमति, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, १६४; विज्ञानवाद के सिद्धान्त, १६४—विज्ञान-आलय-विज्ञान, प्रवृत्तिविज्ञान, १६५; योगज प्रत्यक्ष, १६५।

२. माध्यमिक या शून्यवाद, १६६—स्वरूप, १६६; नामकरण का उद्देश्य, १६७; साहित्य, १६७—नागार्जुन, आर्यदेव, चन्द्रकीर्ति, बुद्धपालित, शान्तिदेव, शान्तरक्षित, १६७-६८; शून्यवाद के सिद्धान्त, १६८—दो प्रकार का सत्य, १६८-६९; समाधि की आवश्यकता, १६९; बौद्धन्याय की चर्चा, १७०-७१; **आलोचन**—आस्तिक तथा बौद्ध-दर्शनों में समता, १७१; बौद्ध-मत के अधःपतन के कारण, १७२-७३।

सप्तम परिच्छेद

न्याय-दर्शन १७४

न्याय-दर्शन की पृष्ठभूमि, १७४; ईश्वर तथा आत्मा का पृथक् अस्तित्व, १७४; संशय, १७५; निर्णय, १७५; तर्क की आवश्यकता, १७६; तर्क प्रमाणों का सहायक, १७७; तर्क का महत्त्व, १७७; तर्कशास्त्र की प्राचीनता, १७७; **आधुनिक न्यायशास्त्र की उत्पत्ति**—अनधिकारी बौद्धों की दशा, १७८; **गौतमसूत्र** की रचना, १७९; **साहित्य, १७९**—न्यायसूत्र के रचयिता, १८०; न्यायशास्त्र के पदार्थ, १८०; न्यायभाष्य, १८०; न्यायवार्तिक, १८०; न्यायसूचीनिबन्ध, १८०; तात्पर्यटीका, १८०; न्यायपरिशुद्धि, न्यायकुसुमाञ्जलि, न्यायसार, न्यायमञ्जरी, १८१; नव्यन्याय की उत्पत्ति, १८१; तत्त्व-चिन्तामणि, १८२; नव्य तथा प्राचीन न्याय में भेद, १८२; **पदार्थनिरूपण, १८२**—प्रमाण, प्रमाणों की संख्या, १८३; प्रमेयनिरूपण, १८३; आत्मा, १८४; शरीर, इन्द्रिय, १८५; अर्थ, बुद्धि, मनस्, १८६; प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्य-भाव, फल, दुःख, अपवर्ग, १८७; मोक्षप्राप्ति की प्रक्रिया, १८८; संशय, १८८; प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, १८९; तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, १९०; छल, जाति, निग्रहस्थान, १९१; **ज्ञान और प्रमाण, १९१**—ज्ञान के भेद, स्मरणात्मक ज्ञान, १९१; अनुभवात्मक ज्ञान, यथार्थ एवं अयथार्थ ज्ञान, १९२; प्रत्यक्षप्रमाण, प्रत्यक्ष के भेद, १९२; सन्निकर्ष के

भेद, १९३-९५; मीमांसकों का मत, १९६; मन, आत्मा तथा त्वगिन्द्रिय का सन्निकर्ष, १९६; मानसिक सन्निकर्ष, अलौकिक सन्निकर्ष, १९७-९८; अनुमान-प्रमाण, १९८; अनुमान की प्रणाली, १९९; अनुमान के भेद, २००-२०१; हेतु के दोषों से बचने का नियम, २०१-२०२; हेत्वाभास के भेद, २०३-२१३; उपमानप्रमाण, २१४; उपमान का स्वरूप, २१४; शब्दप्रमाण, शब्दप्रमाण स्वरूप, २१४; वाक्यार्थबोध के नियम, २१४-२१६; वाक्यों के भेद, २१६; प्रमाणों का प्रामाण्य, २१६-१७; **कार्यकारणभाव, २१७**—असत्कार्यवाद, २१७; कारण का लक्षण, २१८; अन्यथासिद्ध के उदाहरण, २१८; कारण के भेद, २१९; समवायिकारण, २१९; **सम्बन्ध का विचार, २१९**—संयोगसम्बन्ध, २१९; द्रव्य के भेद, २१९; अयुतसिद्ध और समवाय-सम्बन्ध, २१९-२२१, असमवायिकारण, २२१-२२२; निमित्तकारण, २२३; कारणों की विशेषताएँ, २२३; करण, २२३; **ईश्वर या परमात्मा, २२४**—ईश्वर के विषय में उदयन का मत, २२४; ईश्वरसिद्धि की युक्तियाँ, २२४-२५; **आलोचन, २२६**।

अष्टम परिच्छेद

वैशेषिक-दर्शन २२७

वैशेषिक-दर्शन का महत्त्व, २२७; **साहित्य, २२८**—आदिप्रवर्तक कणाद, रावण, भरद्वाज, प्रशस्तपाद, वल्लभाचार्य, २२८; शंकर मिश्र, २२९; न्याय-वैशेषिक-दर्शन, २२९; विश्वनाथ, अन्नम्भट्ट, वरदराजमिश्र, जगदीश, २२९; वैशेषिक-दर्शन का नामकरण, २२९; **पदार्थों का विचार, २३०**—पदार्थों के भेद, २३०-३२; दृष्टिकोण, २३२; **परमाणुकारणवाद तथा सृष्टि और संहार की प्रक्रिया, २३२**—प्रलय की अवस्था, २३२; प्रलय में जीवात्मा, २३३; सृष्टि का कारण तथा उसकी प्रक्रिया, २३३; संहार की प्रक्रिया, २३४; न्यायमत, वैशेषिकमत, २३४; ज्ञान का विचार, २३४; अविद्या के भेद, २३५; विद्या के भेद, २३५; आर्षज्ञान, २३५; कर्म, २३६; कर्म के भेद, २३६; न्याय-वैशेषिक के मतों में परस्पर भेद, २३६-३८।

नवम परिच्छेद

मीमांसा-दर्शन २३९

मीमांसाशास्त्र का स्वरूप, २३९-४०; शास्त्र के नामकरण की युक्ति, २४०; मीमांसा का दृष्टिकोण, २४०; **साहित्य, २४१**—प्राचीन आचार्य, २४१;

मीमांसाशास्त्र के विषय, २४१; शवरस्वामी, कुमारिल भट्ट, २४२; मण्डन मिश्र, प्रभाकर मिश्र, शालिकनाथ मिश्र, पार्थसारथि मिश्र, मुरारि मिश्र, २४३; खण्डदेव, गागाभट्ट, अप्पय्य दीक्षित, नारायण भट्ट, नीलकण्ठ दीक्षित, शंकर भट्ट, २४४; **सिद्धान्तों का विचार, २४४**—प्रभाकरमत, २४४; पदार्थ, २४४-४६; कुमारिलमत, २४६; पदार्थ, २४६-४७; मुरारिमिश्रमत, २४७; पदार्थ, २४७-४८; भाट्टमत—इन्द्रियाँ, २४८; **ईश्वर या परमात्मा, २४९**—ईश्वर का निराकरण, २४९; परमात्मा, २४९; जीवात्मा, २५०; प्रभाकरमत, २५०-५१; मुक्ति का स्वरूप, २५१; भाट्टमत—मुक्ति-प्राप्ति की प्रक्रिया, २५१-५२; मुक्त जीव को आत्मज्ञान नहीं होता, २५२; प्रभाकरमत, २५२; मुक्ति की प्रक्रिया, २५३; भाट्ट और गुरु मत में मोक्ष, २५३-५४; **प्रमाण-विचार, २५४**—धर्म, २५४; प्रमाण का लक्षण, २५४; भाट्टमत—प्रमाण के भेद, २५४-५५; प्रभाकरमत—प्रमाण के भेद, २५५; सन्निकर्ष, २५६; प्रत्यक्ष के भेद, २५६; योगज प्रत्यक्ष, २५६; अनुमान, उपमान तथा शब्द-प्रमाण और उसके भेद, २५६-५७; वेद धर्म में प्रमाण, २५७; अपौरुषेय और स्वप्रकाश, २५७; प्रभाकरमत में शब्दप्रमाण, २५८; उपमानप्रमाण—भट्टमत, प्रभाकरमत, २५८-५९; अर्थापत्ति और उसके भेद, २५९-६०; अनुपलब्धिप्रमाण—भट्टमत, प्रभाकरमत, २६०; सम्भवप्रमाण, २६०; ऐतिह्यप्रमाण, २६१; प्रतिभा-प्रमाण, २६०; **प्रामाण्यवाद, २६१**—प्रामाण्यविचार का महत्त्व, २६०; प्रामाण्यविचार का स्वरूप, २६१-६२; मीमांसकों के स्वतःप्रामाण्यवादी होने का कारण, २६२; भट्टमत, प्रभाकरमत, नैयायिकमत, २६२-६३; मुरारिमत, २६३-६४; **भ्रान्तिज्ञान, २६४**—प्रभाकरमत, २६४-६५; कुमारिलमत, २६५-६६; **आलोचन, २६६**; आत्मा, ईश्वर, मुक्ति, २६६।

दशम परिच्छेद

साङ्ख्य-दर्शन २६७

साङ्ख्य का स्वरूप, २६७-६८; 'साङ्ख्य' शब्द का अर्थ, २६८६९; साङ्ख्य-की प्राचीनता, २६९; साङ्ख्यशास्त्र के रहस्य का लोप, २७१; बौद्धिक पदार्थों के चिन्तन से दूर होना, २७१; **साङ्ख्यदर्शन की भूमि, २७२—साङ्ख्य-दर्शन के आचार्य तथा उनके ग्रन्थ २७२**—कपिल, आसुरि, पञ्चशिख, २७३; पञ्चशिख के सूत्र, २७४-७५; विन्ध्यवास, विज्ञानभिक्षु, ईश्वर-कृष्ण, २७६; साङ्ख्यकारिका, साङ्ख्यकारिका की टीकाएँ, २७७-८०;

तत्वों का विचार, २८०—न्याय-वैशेषिक के नित्य द्रव्य, २८०; साङ्ख्य के तत्त्व, २८०; परिणाम, २८१; गुणों का रूप, २८१; परिणाम के भेद, २८२; सृष्टि का कारण, २८३; कार्यकारण का स्वरूप, २८३; सत्कार्य की सिद्धि, २८४-८५; **तत्त्वविचार, २८६**—प्रकृति से तत्त्वों की अभिव्यक्ति, २८६-९२; बुद्धि, अहंकार, २८७; गुणों का स्वभाव, २८७; अहंकार का स्वरूप, २८८; इन्द्रियाँ, २८८-८९; तन्मात्राएँ, पाँच भूत, २८९-९०; परमाणु का स्वरूप, २९०; तत्त्वों की अभिव्यक्ति, २९१-९२; साङ्ख्य के पंचभूत, २९२; व्यक्त के धर्म, २९३-९४; अव्यक्त या प्रकृति की सिद्धि, २९५-९६; अव्यक्त के धर्म, २९६-९७; **'ज्ञ' का विचार**—'ज्ञ' के धर्म, २९७; साङ्ख्य में एक पुरुष, २९७-९८; साङ्ख्य की लुप्त-कारिका, २९८; अव्यक्त और बद्धपुरुष की सिद्धि, २९८-३००; **'ज्ञ' (पुरुष)** बहुत नहीं है, ३००; बद्ध पुरुष बहुत है, ३००; बद्ध पुरुष की सिद्धि, ३०१-३०४; **पुरुषबहुत्ववाद** और उसका निराकरण, ३०३-३०५; साङ्ख्य में तीन प्रकार के पुरुष, ३०५; **'ज्ञ'** के अन्य धर्म, ३०५; चेतन और जड़ में परस्पर आरोप, ३०६; **प्रमाणविचार, ३०६**—प्रमाण का लक्षण, प्रत्यक्ष का लक्षण, ३०६; प्रत्यक्षज्ञान की प्रक्रिया ३०६-३०८; अनुमान, आप्तवचन, ३०८; प्रमाणों का प्रयोजन, ३०८-३०९; दूसरे के मतों का विचार, ३०९; **मुक्ति का विचार, ३०९**—पुरुष और प्रकृति का बन्धन, ३१०; सृष्टि का कार्य, ३१०; सूक्ष्मशरीर, ३११; कैवल्य की प्राप्ति, ३११; विदेह-कैवल्य, जीवन्मुक्ति, ३११-३१२; **आलोचन, ३१२**—ज्ञान, मुक्तपुरुष और प्रकृति, ३१२-१४; साङ्ख्य में ईश्वर, ३१४-१५।

एकादश परिच्छेद

योग दर्शन ३१६

योग का महत्त्व, ३१६; साङ्ख्य और वेदान्त में योग का स्थान, ३१७-१८; **योगशास्त्र के आचार्य और ग्रन्थ**—पतञ्जलि, व्यास, ३१८; वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु, भोज, रामानन्द, सदाशिवेन्द्रसरस्वती, ३१९; **पदार्थविचार, ३१९**—योगशास्त्र का विषय, ३१९; चित्त की भूमियाँ, ३१९-२०; चित् और चित्त में परस्पर आरोप, ३२१; चित्त की वृत्तियाँ, ३२२; वृत्ति के भेद, ३२२; प्रत्यक्ष-प्रमाण, ३२२; विकल्प, निद्रा, स्मृति, ३२३; वृत्तिनिरोध के उपाय, ३२३; समाधि के भेद, ३२३; संप्रज्ञात या सबीज समाधि, ३२४;

संप्रज्ञात-समाधि के भेद, ३२४; असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि, ३२५; असम्प्रज्ञात-समाधि के भेद, ३२५; भवप्रत्यय, षाट्कौशिक शरीर, विदेह जीव,३२५; प्रकृतिलय, ३२६; उपायप्रत्यय, ३२६; विघ्न, ३२७; चित्तविक्षेप के कारण, ३२७; चित्त को प्रसन्न करने के उपाय, ३२७; क्लेश का स्वरूप, ३२७; क्लेश के भेद, ३२७-३२८; **योग के साधन, ३२८**—अष्टाङ्गयोग, ३२८-३२९; संयम, ३२९; **योग की भूमि, ३३०**—योगी के चार भेद—प्रथम-कल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योतिः, अतिक्रान्तभावनीय, ३३०-३१; प्रज्ञा के भेद, ३३१-३२; समाधि के बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग, ३३२; **परिणाम, ३३२**—चित्त का स्वरूप, ३३२; परिणाम का स्वरूप, ३३३; निरोध-परिणाम, ३३३; समाधि-परिणाम, एकाग्रता-परिणाम, ३३४; भूतों में परिणाम, ३३४; धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम, अवस्थापरिणाम, ३३६; इन्द्रियों में परिणाम, ३३५; **कैवल्य, ३३६**—योगसाधन में विघ्न, ३३६; विवेकज्ञान, ३३६; **कर्मविचार, ३३७**—कर्म का महत्त्व, ३३७; कर्म के भेद, ३३७-३८; वासनाओं की नियमित प्रवृत्ति, ३३८; वासना के कारण—हेतु, फल, आश्रय, ३३९; आलम्बन, संस्कार, ३३९-४०; **ईश्वर, ३४०**—ईश्वर का लक्षण, ३४०; केवली से भिन्न ईश्वर, ३४१; मुक्तपुरुष से भिन्न ईश्वर, ३४१; प्रकृतिलीन पुरुष से भिन्न ईश्वर, ३४१; ईश्वर सदा मुक्त और सदा ईश्वर, ३४१-४२; ईश्वर के गुण, ३४२; ईश्वर का प्रतीक, ३४२; ईश्वर के चिन्तन से लाभ, ३४३; मुक्ति का साधन, ३४३; **आलोचन, ३४३**—सांख्य और योग के पुरुष, ३४३-४४।

द्वादश परिच्छेद

अद्वैत-दर्शन (शांकर-वेदान्त) ३४५

उपक्रम, ३४५-४६; साङ्ख्य का वास्तविक स्वरूप, ३४७; 'वेदान्त' का अर्थ, ३४७; **साहित्य, ३४८**—ब्रह्मसूत्र, ३४८; वेदान्त की आचार्यपरम्परा, ३४९; शङ्कराचार्य और उनका समय, ३४९-५०; शङ्कराचार्य की रचनाएँ, ३५०-५१; शङ्कराचार्य के शिष्यों के ग्रन्थ, ३५१; भास्कराचार्य, सर्वज्ञात्ममुनि, ३५१; वृद्ध वाचस्पति मिश्र, प्रकाशात्मा, अद्वैतानन्द, चित्सुखाचार्य, अमलानन्द, अखण्डानन्द, प्रकाशानन्द, मधुसूदनसरस्वती, ३५२; ब्रह्मसूत्र के भाष्यों की संख्या, ३५३; **तत्त्वविचार, ३५३**—उपक्रम, ३५३-५४; सत्ता का स्वरूप और भेद, ३५४-५५; परिणाम और विवर्त, ३५५;

अध्यास, ३५५; ब्रह्म या आत्मा, ३५५; अज्ञान और माया, ३५६; अविद्या और माया, ३५६-५७; माया की शक्ति, ३५७-५८ सृष्टि का कारण, ३५८; चैतन्य के दो स्वरूप, ३५८; माया एक या अनेक, ३५९; समष्टिरूप अज्ञान—ईश्वर, ३५९; लीला के लिए सृष्टि, ३६०; व्यष्टिरूप अज्ञान—प्राज्ञ, ३६०-६१; आनन्दमयकोष, ३६१; भूतों की सृष्टि, ३६१; ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति, ३६२; अन्तःकरणों की उत्पत्ति, ३६२; विज्ञानमयकोष, ३६२; जीव, ३६२; मनोमयकोष, ३६३; कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति, ३६३; प्राणों की उत्पत्ति, ३६३; प्राणमयकोष, ३६३; सूक्ष्मशरीर, ३६४; समष्टिरूप सूक्ष्मशरीर—सूत्रात्मा, ३६४; व्यष्टिरूप सूक्ष्मशरीर—तैजस्, ३६४; पञ्चीकरण, ३६४-६५; स्थूलशरीर, ३६५; समष्टि-स्थूलप्रपञ्च—विराट्, ३६६; व्यष्टि-स्थूलप्रपञ्च—विश्व, ३६६; अन्नमयकोष, ३६६; महान् प्रपञ्च, ३६६; अध्यास या आरोप, ३६७; अपवाद, ३६७; 'तत्त्वमसि' का अर्थ, ३६७-६८; अज्ञान का नाश, चित्तवृत्ति का नाश, ३६९; ब्रह्मसाक्षात्कार, ३६९; योगसाधना की आवश्यकता, ३६९; मुक्ति, ३६९; जीव और ब्रह्म का ऐक्य, ३६९-७०; जीवन्मुक्ति, ३७०; **प्रमाण-विचार, ३७०**—प्रमाणों की संख्या, ३७१; प्रत्यक्ष-प्रमाण, ३७१; जड़ और चैतन्य का प्रत्यक्ष, ३७१-७२; प्रत्यक्ष के भेद, ३७२; अद्वैत में मन इन्द्रिय नहीं, ३७२; न्याय-वैशेषिक से भेद, ३७३; अनुमान, ३७३; **आलोचन, ३७३**—आनन्द की खोज, ३७३-७४; शङ्कराचार्य और माया, ३७४-७५; अधिकारी होना, ३७५; अद्वैतवाद का सिंहावलोकन, ३७५-७८।

त्रयोदश परिच्छेद

काश्मीरीय शैव-दर्शन (अद्वैत-भूमि) ३७९

नामकरण, ३८०; ब्रह्माद्वैत तथा ईश्वराद्वयवाद में भेद, ३८०-८१; दो का नित्य सामरस्य ही अद्वैत है, ३८१; **साहित्य, ३८१**—शिवसूत्र, वृत्ति, वार्तिक, विमर्शिनी, प्रत्यभिज्ञाहृदय, तन्त्रालोक, तन्त्रसार, प्रत्यभिज्ञाकारिका, ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, आदि ३८१; **तत्त्वविचार, ३८१**—तत्त्व, ३८१; शिवतत्त्व, ३८२; विमर्शशक्तितत्त्व, ३८३ सदाशिवतत्त्व, ३८४; ईश्वरतत्त्व, ३८४; सद्विद्यातत्त्व, ३८४; मायातत्त्व, ३८४; माया के पाँच कञ्चुक, ३८५; पुरुषतत्त्व, ३८५; प्रकृतितत्त्व, ३८५; बुद्धितत्त्व, अहंकारतत्त्व, मनस्तत्त्व,

३८५; पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, ३८५; पाँच कर्मेन्द्रियाँ, ३८६; पाँच तन्मात्राएँ, ३८६; पञ्चभूत, ३८६; व्युत्क्रमसृष्टि, ३८६-८७; जीवन्मुक्ति, ३८७; **आलोचन**, ३८८—ब्रह्म और माया के स्वरूप का विचार, ३८८-९०; **उपसंहार**, ३९०-९१।

भिन्न-भिन्न भूमि में तत्त्वों का क्रमिक विकास का चित्र, ३९२-९३

चतुर्दश परिच्छेद

वैष्णव-दर्शन (वैष्णव-सम्प्रदाय) ३९४

आगम और निगम, ३९४; भक्ति का महत्त्व, ३९४-९५; भक्तिशास्त्र के आचार्य, ३९५; वैष्णव-सम्प्रदाय के भेद श्रीसम्प्रदाय, हंससम्प्रदाय, ब्रह्मसम्प्रदाय, रुद्रसम्प्रदाय, ३९६; वैखानस, श्रीराधावल्लभी, ३९६-९७; गोकुलेश, वृन्दावनी, रामानन्दी, ३९७; हरिव्यासी, निम्बार्क, भागवत, पांचरात्र, वीर वैष्णव, ३९८।

पञ्चदश परिच्छेद

भेदाभेद-दर्शन (भास्कर-वेदान्त) ३९९

भेदाभेदवाद की परम्परा, ३९९; भास्कर, ३९९; भास्कर का सिद्धान्त, ४००; **तत्त्वविचार**, ४००—ब्रह्मतत्त्व, ४००; ब्रह्म का स्वाभाविक परिणाम, ४०१; परिणाम का कारण, ४०१; चिन्मय जगत्, ४०१; कार्यकारण-भाव, ४०२; जगत् मिथ्या नहीं है, ४०२; जीव, ४०२; जीव अणु है, ४०३; मुक्ति और उसके भेद, ४०३; जीवन्मुक्ति नहीं मानते, ४०३; मुक्ति-प्राप्ति की प्रक्रिया, ४०३; कर्म की आवश्यकता, ४०४; निवृत्तिमार्ग की प्रक्रिया, ४०४; योगाभ्यास, ४०४; ध्यान, धारणा एवं समाधि का अर्थ, ४०४।

षोडश परिच्छेद

विशिष्टाद्वैत-दर्शन (रामानुज-वेदान्त) ४०५

श्रीसम्प्रदाय की गुरुपरम्परा, ४०५; नाथमुनि, ४०५; यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य, ४०६; लोकाचार्य, वेदान्तदेशिक, श्रीनिवासाचार्य, ४०६; **तत्त्वविचार**, ४०७—चित्तत्त्व, जीवात्मा और उसके भेद, ४०७; बद्धजीव, ४०७-४०९;

मुक्तजीव, ४०९-११; नित्य-जीव, ४११; ज्ञान और आत्मा में भेद, ४११; अचित्तत्त्व, शुद्धसत्त्व, मिश्रसत्त्व, सत्त्वशून्य, ४११-१२; ईश्वरतत्त्व, ४१३; ईश्वर का स्वरूप, ४१३-१५; भगवान् की उपासना, ४१५; अभेदज्ञान मिथ्या है, ४१५; ज्ञानस्वरूपविचार, ४१५-१६; भक्ति तथा प्रपत्ति, ४१६; **प्रमाणनिरूपण, ४१६**—प्रत्यक्षप्रमाण, ४१७; प्रत्यक्ष के भेद, ४१७; भ्रम भी यथार्थज्ञान है, ४१७; चैतन्य के भेद, ४१८; अनुमान-प्रमाण, ४१८; अनुमान के अवयव, ४१८; शब्दप्रमाण, ४१८-१९; मिश्रसत्त्व, ४१९; सृष्टि-प्रक्रिया, ४१९।

सप्तदश परिच्छेद

द्वैताद्वैत-दर्शन (निम्बार्क-वेदान्त) ४२०

परिचय, ४२०; **साहित्य, ४२०**—वेदान्तपारिजातसौरभ, सिद्धान्तरत्न, दशश्लोकी, श्रीकृष्णस्तव, वेदान्तकौस्तुभ, वेदान्तकौस्तुभप्रभा, पांचजन्य, तत्त्व-प्रकाशिका, सकलाचार्यमतसंग्रह आदि, ४२०; **तत्त्वनिरूपण, ४२१**—**जीवात्मा**-जीव का स्वरूप, ४२१; जीव के भेद, ४२१-२२; मुक्त-जीव का भोग, ४२२; जड़तत्त्व या प्रकृति और उसके भेद, ४२२-२३; ईश्वरतत्त्व, ४२३; ईश्वर के गुण, ४२३-२४; जगत् परमात्मा का परिणाम है, ४२४; जगत् ब्रह्मस्वरूप है, ४२४; सृष्टि-प्रक्रिया, ४२४; प्राण, ४२४; रामानुज और निम्बार्कमत में भेद, ४२५।

अष्टादश परिच्छेद

द्वैत-दर्शन (माध्व-वेदान्त) ४२६

परिचय, ४२६; **तत्त्वविचार, ४२६—पदार्थनिरूपण, ४२६**—द्रव्यनिरूपण—द्रव्य का लक्षण, द्रव्य के भेद, ४२७; परमात्मा, ४२७-२९; लक्ष्मी, लक्ष्मी की मूर्तियाँ, ४२९-३०; जीव और उसके भेद, ४३०-३१; अव्याकृत आकाश, ४३१-३२; प्रकृति, ४३२; गुणत्रय, ४३२; महत्तत्त्व, अहंकारतत्त्व, बुद्धि-तत्त्व, ४३३; मनस्तत्त्व, इन्द्रियतत्त्व, ४३४; तन्मात्रातत्त्व, भूततत्त्व, ब्रह्माण्डतत्त्व, ४३५; अविद्यातत्त्व, ४३६; वर्णतत्त्व, अन्धकारतत्त्व, ४३७; वासनातत्त्व, स्वप्नविचार, ४३८; कालतत्त्व, प्रतिबिंबतत्त्व, ४३९; गुण-निरूपण, ४४०; कर्मनिरूपण, ४४०; सामान्य निरूपण, ४४१; विशेष—

निरूपण, ४४२; विशिष्टनिरूपण, ४४२; अंशीनिरूपण, ४४२; शक्तिनिरूपण, ४४२; सादृश्यनिरूपण, ४४३; अभावनिरूपण, ४४३; कारणविचार, ४४४; ज्ञानविचार, ४४४; सृष्टिप्रक्रिया, ४४५; दश अवतार, ४४६; प्रलय, ४४६-४७; ज्ञान का विचार, ४४७-४८; दृष्टिभेद, ४४९; मोक्षविचार, ४४९; मोक्ष के भेद, ४४९; कर्मक्षय, ४४९; उत्क्रान्तिलय-अर्चिरादिमार्ग, ४५०; भोगमोक्ष, ४५०।

एकोनविंश परिच्छेद

शुद्धाद्वैत-दर्शन (वल्लभ-वेदान्त) ४५१

उपक्रम, ४५१; ब्रह्म ही एकमात्र प्रमेय, ४५१; माया, ४५२; भगवान् की शक्तियाँ, ४५२; जीव, ४५२-५३; सृष्टिप्रक्रिया, ४५३; सृष्टि के भेद, ४५३-५४; **प्रमेयनिरूपण, ४५४**—प्रमेय के भेद, ४५४; स्वरूपकोटि, ४५४; अक्षर, काल, कर्म, स्वभाव, ४५४-५५; कारणकोटि के तत्त्व, ४५६; सत्त्व, रजस्, तमस्, ४५६-५७; पुरुष, ४५७-५८; प्रकृति, ४५८-५९; प्रकृति के भेद, ४५९; महत्, अहंकार, तन्मात्रा, ४६०-६१; शब्द, ४६१-६२; शब्द की नित्यता, स्फोटविचार, ४६२; शब्द की उत्पत्ति, ४६३; स्पर्श, ४६३-६४; रूप, ४६४; रस, ४६४-६५; गन्ध, ४६५; भूत—आकाश, वायु, तेजस्, ४६५-४६७; जल, पृथ्वी, ४६७; इन्द्रिय, ४६७-६८; मन, ४६८; मन के गुण, ४६८; **ज्ञान**—ज्ञान का स्वरूप और भेद, ४६८-७१; **करण, ४७१; प्रमाण, ४७१; आलोचन, ४७१-७२।**

शब्दानुक्रमणिका ४७३

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'

प्रथम परिच्छेद

भारतीय दर्शन का स्वरूप

भारतवर्ष की भौगोलिक परिस्थिति, इसका नातिशीतोष्ण जलवायु, घने छायादार जंगलों का आधिक्य, अनेक प्रकार का प्राकृतिक सौन्दर्य, यहाँ की नदी-मातृक और देवमातृक उपजाऊ भूमि, कंद-मूल एवं फल-फूलों तथा सुस्वादु खाद्य पदार्थों का स्वल्प ही परिश्रम से पर्याप्त मात्रा में मिल जाना, आदि भारतवर्ष की विशेष परिस्थिति ने यहाँ के रहने वालों को अनादि काल से शान्त और गंभीर बना रखा है। इन्हीं कारणों से ये लोग अपनी समस्त मानसिक शक्तियों को जीवन तथा विश्व की गहन और उलझी हुई समस्याओं को, मृत्यु के रहस्य को, मरने के बाद जीवात्मा की बातों को, दैवी शक्ति को तथा आध्यात्मिक तत्त्वों को समझने और अज्ञानियों को समझाने में लगा सके। यही कारण हो सकते हैं जिनसे भारतीयों का प्रत्येक कार्य अलौकिक तथा आध्यात्मिक भावों से परिपूर्ण है। मनुष्य के जीवन के नियमानुकूल कार्य तथा दर्शन-शास्त्रों में सिद्धान्त-रूप में कहे गये आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तत्त्व परस्पर इस प्रकार ओत-प्रोत हैं कि एक दूसरे से कभी भी पृथक् नहीं हो सकते। इन दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है। जीवन का सादापन, उच्च विचार में प्रेम, अन्तःकरण की प्रशान्त भावना, सत्यप्रियता, संसार को पारमार्थिक दृष्टि से मिथ्या समझना, दैवी शक्ति में श्रद्धा, भक्ति और आत्मसमर्पण, जीवन की उलझनों को सुधारने में तत्परता, परम सुख तथा आनन्द की प्राप्ति के लिए पूर्ण उत्सुकता और अदम्य उत्साह, आदि गुण साधारण रूप से प्रत्येक भारतीय के विभिन्न कार्यों में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से पाये जाते हैं। जीवन की झंझटों से बच कर सत्य और असत्य, श्रेयस् और प्रेयस्, निःश्रेयस् और अभ्युदय, प्रिय और अप्रिय, चेतन और जड़, सुख और दुःख, आदि तत्त्वों

दार्शनिक विचार के लिए उपयुक्त देश

के रहस्य को समझने के लिए सृष्टि के आरम्भ से ही भारतीय अपने जीवन की समस्त शक्तियों को लगाते चले आ रहे हैं। इसके लिए वेद से लेकर आज तक के सभी साहित्य साक्षी हैं। इसलिए भारतवर्ष की पुण्य भूमि में अनादि काल से ही आध्यात्मिक चिन्तन की, दर्शन की, विचार-धारा बहती चली आ रही है, यह कहना अनुपयुक्त न होगा।

दार्शनिक वातावरण का प्रभाव

यद्यपि उपर्युक्त आध्यात्मिक परिस्थिति का प्रभाव समस्त भारतवर्ष पर अवश्य पड़ता था तथापि इससे सभी मनुष्य एक-सा लाभ नहीं उठा सके होंगे। कारण यह है कि किसी वस्तु को ग्रहण करने के लिए ग्राहक में उसके उपयुक्त योग्यता की भी आवश्यकता होती है। सूर्य की किरण का प्रभाव यद्यपि मणि तथा मिट्टी के ढेले के ऊपर एक-सा ही पड़ता है, किन्तु इसका प्रतिफल भिन्न-भिन्न होता है। सूर्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर किसी प्रदेश को प्रकाशित करने के लिए ग्राहक में भी तेजस् की मात्रा अपेक्षित होती है। मणि में तेजस् की मात्रा है, किन्तु मिट्टी के ढेले में नहीं। इसी कारण इस जगत् में रहते हुए भी अन्तःकरण की शुद्धि के तारतम्य के अनुसार जीवन के प्रधान लक्ष्य की ओर मनुष्य अग्रसर होता है। इसी तारतम्य के कारण एक सुखी है तो दूसरा दुःखी है, एक धनी है तो दूसरा दरिद्र है, एक ज्ञानी है तो दूसरा अज्ञानी है। देश और काल से परिच्छिन्न इस जगत् में 'आकस्मिकवाद' का किसी भी अवस्था में वस्तुतः कोई स्थान नहीं है। प्रत्येक घटना के लिए कोई न कोई कारण, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में, वर्तमान रहता ही है। यद्यपि सभी घटनाओं के कारणों को सभी नहीं ढूँढ़ निकाल सकते, किन्तु फिर भी 'उच्छृङ्खलवाद' का अवलम्बन न कर ज्ञानियों द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर ही चलने से कल्याण है। उच्छृङ्खलता के कारण सन्मार्ग पर भी लोग फिसल जाते हैं और जीवन के लक्ष्य से दूर हो जाते हैं। जीवन के अनुभवों में तारतम्य को देखकर संसार के अनादित्व में तथा 'कर्मवाद' के रहस्य में हमें विश्वास करना पड़ता है। यह केवल विश्वास ही नहीं है, यह तो वास्तव में जीवन की एक अनुभूति है। 'कर्मवाद' के सभी रहस्यों को तो बड़े-बड़े ऋषियों ने भी साक्षात् न किया होगा। सचमुच में कर्म की गति बहुत ही गहन है, फिर भी 'कर्मवाद' के सिद्धान्तों को सभी को स्वीकार करना ही पड़ता है।

इस संसार में आये हुए सभी मनुष्यों की प्रवृत्ति बहिर्मुखी है, और यही उचित भी है, क्योंकि सांसारिक सुख-दुःख के भोग के लिए ही तो जीव इस संसार में आता

है और इस भोग के लिए बहिर्मुखी प्रवृत्ति की आवश्यकता है। परन्तु सभी प्रकार के भोगों का अनुभव करता हुआ जीव भी अपने जीवन के चरम लक्ष्य की खोज करने में व्यग्र रहता है। ज्ञान के क्रमिक विकास के साथ-साथ परम सुख को पाने के लिए, आनन्द की प्राप्ति के लिए, विविध प्रकार के दुःखों से छुटकारा पाने के लिए, जीव सदैव चेष्टा करता रहता है। अतएव उस परमानन्द की प्राप्ति के लिए, अपने स्वरूप को, अपने अन्तःकरण की वृत्तियों को एवं इस व्यावहारिक जगत् के सूक्ष्म पदार्थों को समझने के लिए जिज्ञासु को सब से प्रथम आन्तरिक दृष्टि करना भी नितान्त आवश्यक है। अतएव अपनी शरीर-यात्रा के लिए अत्यन्त आवश्यक क्रियाओं के अतिरिक्त अन्य सभी बाह्य क्रियाओं से अपने मन को हटा कर उसे साक्षात् या परम्परा या जीवन के परम लक्ष्य के चिन्तन में लगाना चाहिए। जीवन के चरम लक्ष्य को तथा दर्शन-शास्त्र के तत्त्वों को अच्छी तरह समझने के लिए परिशुद्ध अन्तःकरण की आवश्यकता होती है। अतएव हमें बहिर्मुखी भावनाओं से अपने मन को हटा कर, आधुनिक जगत् के वातावरण से पृथक् होकर, केवल तत्त्वजिज्ञासु के रूप में भारतीय दर्शन की विचारधाराओं के क्रमिक विकास तथा ज्ञान और विज्ञान के यथार्थ स्वरूप का साक्षात् अनुभव करने के लिए तत्त्व-ज्ञान के मार्ग का पथिक बनना चाहिए।

जीव की बहिर्मुखी प्रवृत्ति

अन्तर्मुखी प्रवृत्ति की आवश्यकता

दर्शन की परिभाषा

'दर्शन' शब्द से हमें क्या समझना चाहिए, इसका विचार यहाँ आवश्यक है। 'दर्शन' शब्द 'दृश्' (देखना) धातु से करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय लगा कर बना है। इसका अर्थ है 'जिस के द्वारा देखा जाय'। यहाँ इतना और भी विचार करना उचित है कि 'देखा जाय' इस पद का साक्षात् अर्थ 'ज्ञान प्राप्त किया जाय' भी हो सकता है, या नहीं। ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनेक उपाय हैं, किन्तु सब से निश्चित, अर्थात् विश्वसनीय उपाय है, 'प्रत्यक्ष' (आँख से देखना)। प्रत्यक्ष के भी इन्द्रियों के भेद से पाँच भेद हैं, जिनमें चक्षुरूप इन्द्रिय के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वही ज्ञान सब से बढ़ कर प्रामाणिक होता है। इसलिए जहाँ ज्ञान की प्रामाणिकता और दृढ़ता के सम्बन्ध में विशेष जोर देना है वहाँ 'दर्शन' शब्द का ही प्रयोग उचित है और 'जिसके द्वारा देखा जाय'

दर्शन शब्द का अर्थ

अर्थात् जो आँख से देखा जाय, यही उसका साक्षात् अर्थ करना उचित है। देखना चक्षु के ही द्वारा हो सकता है, अन्य इन्द्रियों से नहीं।

कुछ लोगों का कहना है कि प्राकृतिक या बौद्धिक या आध्यात्मिक जगत् के बहुत से तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म हैं। उन्हें चक्षु के द्वारा देखना असंभव है। इसलिए 'दर्शन' शब्द का 'ज्ञान प्राप्त किया जाय' यही अर्थ करना उचित है। प्रतिवादी का कहना कुछ अंश में तो सत्य है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के पदार्थ दर्शन-शास्त्र के विषय हैं और परम तत्त्व की प्राप्ति के लिए दोनों का साक्षात्कार आवश्यक है। इसलिए चार्वाक, न्याय, वैशेषिक आदि स्थूल दृष्टि वाले दर्शनों में स्थूल पदार्थों के तथा सांख्य, योग वेदान्त आदि सूक्ष्म दृष्टि वाले दर्शनों में सूक्ष्म पदार्थों के देखने के लिए उपाय कहे गये हैं। किन्तु यहाँ यह कह देना उचित होगा कि सूक्ष्म पदार्थों के देखने के लिए प्रत्येक मनुष्य में एक विशेष चक्षु होता है, जिसे साधारणतया 'प्रज्ञाचक्षु', 'ज्ञानचक्षु', आदि लोग कहते हैं। गीता में भी विश्वरूप को देखने के लिए भगवान् ने अर्जुन को 'दिव्यचक्षु' ही दिया था। बहुत ही तपस्या करने पर, या भगवान् के अनुग्रह से, इस का उन्मीलन होता है और जब एक बार यह चक्षु खुल जाता है तो फिर उस व्यक्ति को इस चक्षु के द्वारा सभी सूक्ष्म पदार्थ हथेली पर आँवले की तरह प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं। 'दर्शन' के लिए हमें दोनों प्रकार के चक्षुओं की अपेक्षा होती है। स्थूल तत्त्वों को स्थूल नेत्र से तथा सूक्ष्म तत्त्वों को सूक्ष्म नेत्र से हम देखते हैं। यही कारण है कि उपनिषदों ने 'दृश्' धातु का ही प्रयोग किया है, और यही भाव 'भारतीय दर्शन' के 'दर्शन' शब्द में भी है। बिना चाक्षुष प्रत्यक्ष के किसी भी तत्त्व का ज्ञान निश्चित रूप से नहीं हो सकता है।

दर्शन का प्रधान लक्ष्य

अब मन में जिज्ञासा होती है कि 'देखा जाय', तो 'क्या देखा जाय'? उपर्युक्त प्रश्न के समाधान करने के पूर्व हमें यह विचार करना उचित है कि किसी वस्तु को देखने के लिए पहले जिज्ञासा ही क्यों उत्पन्न होती है? बिना किसी कारण के कोई भी क्रिया नहीं हो सकती। अतः वह कौन-सा कारण है जो मनुष्य को किसी वस्तु को देखने के लिए प्रेरित करता है? यह पहले कहा गया है कि जीव सुख और दुःख के भोग करने के लिए इस संसार में आता है। दुःख से सर्वथा पृथक्

जीवन दुःखमय है

न होने के कारण वस्तुतः शुद्ध सुख इस संसार में नहीं है। अतः यह संसार केवल दुःखमय है और जितने जीव यहाँ आते हैं, सभी किसी न किसी प्रकार के दुःख से आजीवन चिन्तित रहते हैं। इस संसार में दुःख से छुटकारा किसी भी जीव को नहीं है। इसी के साथ-साथ यह भी सत्य है कि दुःख किसी को प्रिय नहीं है एवं सभी सदैव एकमात्र दुःख से छुटकारा पाने के लिए ही प्रयत्न करते रहते हैं और जब तक दुःख से सर्वथा छुटकारा नहीं मिल जाता, तब तक जीव का प्रयत्न चलता ही रहता है, चाहे इसके लिए जीव को अनेक बार जन्म लेना पड़े। इसी के साथ-साथ

जीवन का चरम लक्ष्य

यह भी निश्चित है कि जिस क्षण जीव को दुःख से सर्वथा एवं सदा के लिए छुटकारा मिल जायगा, उसी क्षण जीव की समस्त क्रियाएँ स्थगित हो जायँगी तथा वह जीव सदा के लिए जन्म और मरण से मुक्त हो जायगा। यही जीव का चरम लक्ष्य है, यही दर्शन-शास्त्र का परम तत्त्व है, जिसके स्वरूप के प्रतिपादन के लिए एवं जिस पद की साक्षात् अनुभूति के लिए भारतीय दर्शनों का प्रतिपादन किया गया है।

उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट है कि हमारे 'जीवन' का तथा 'भारतीय-दर्शन' का परस्पर सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। ये दोनों ही एक ही लक्ष्य को सामने रख

जीवन और दर्शन का सम्बन्ध

कर एक ही मार्ग पर साथ-साथ चलने वाले दो पथिक हैं। इन दोनों की सत्ता एक ही कारण पर निर्भर है। उस चरम तत्त्व का सैद्धान्तिक रूप हमें दर्शन-शास्त्रों में मिलता है, किन्तु व्यावहारिक रूप तो अपने जीवन में ही मिलता है और ये दोनों ही रूप मिल कर हमें उस परम तत्त्व के पूर्ण रूप का अनुभव कराते हैं। दुःख का आत्यन्तिक नाश या जन्म और मरण से सदा के लिए मुक्त होना ही तो सभी का चरम लक्ष्य है। अतएव जितने कार्य, छोटे से छोटे और बड़े से बड़े, हम करते हैं, वे सब इसी एक-मात्र लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही करते हैं। इसी प्रकार हमारे दर्शनों में जितनी बातें कही गयीं हैं वे सब एकमात्र इसी चरम लक्ष्य की प्राप्ति के साधन हैं। इनके द्वारा ही हमें उस परम पद का साक्षात्कार होता है। इसी लिए इन को हम 'दर्शन' या 'दर्शन-शास्त्र' कहते हैं।

उपर्युक्त कथन को उदाहरण के द्वारा समझाना अनुपयुक्त न होगा। जब से जीव अपने पूर्व-जन्म के कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का भोग इस संसार में आरंभ करता है, अर्थात् माता के गर्भ में प्रवेश करता है, उसी समय से उस जीव का एक-

मात्र ध्येय है सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति। गर्भ में प्रवेश करते ही जिन वस्तुओं को वह जीव नहीं पसन्द करता, उन्हें यदि माता खाती है, तो उससे वह जीव व्याकुल हो जाता है और माता को भी कष्ट देता है। बाह्य-जगत् के मेघ के अत्यन्त कठोर गर्जन को सुनकर गर्भ में रहने वाला जीव चौंक पड़ता है और बहुत कष्ट का अनुभव करता है। गर्भ से बाहर होते ही धाय की अंगुलियों का कठोर स्पर्श, सूर्य का तीक्ष्ण प्रकाश, वायु का प्रबल वेग, आदि के सम्पर्क में इस जन्म में प्रथम बार आने के कारण तथा भूख-प्यास से उसका कोमल शरीर दुःख पाता है और रो-रो कर वह जीव उस दुःख को प्रकट करता है। इनका प्रतीकार होने पर उसे सुख मिलता है और वह शान्त हो जाता है। जीवन-यात्रा में अग्रसर होने के साथ-साथ उस जीव की आकांक्षाएँ भी बढ़ने लगती हैं, अर्थात् जिन बातों से कुछ ही दिन पूर्व उसे आनन्द मिलता था, उनसे अब उसे आनन्द नहीं मिलता और उनसे अधिक आनन्द देने वाले पदार्थों को पाने के लिए उसकी इच्छा होने लगती है और उन्हीं के लिए वह तब चेष्टा करता है। जब तक वे पदार्थ उसे नहीं मिलते, तब तक उसे चैन नहीं पड़ता। उस जीव को अब केवल लेटे रहने से आनन्द नहीं मिलता, अब वह खिसक कर अपने हाथ-पैर को चला कर आनन्द पाना चाहता है। क्रमशः आकाश के चन्द्र को देख कर या सुन्दर मिट्टी के खिलौने से उसे अब आनन्द नहीं मिलता है, वह तो किसी चिरस्थायी आनन्द देने वाले पदार्थ की खोज में व्यग्र रहता है। अपनी प्रत्येक साधारण से साधारण क्रिया में वह आनन्द ढूँढ़ता रहता है, जिससे उन वस्तुओं को न पाने के कारण जो उसके मन में दुःख है, उसका नाश हो। साथ ही साथ वह जीव भिन्न-भिन्न आनन्दों में तारतम्य का अनुभव करता रहता है। जिस क्रिया में जीवन को थोड़ा-सा अधिक आनन्द मिलता है या मिलने की आशा होती है, उसी को पाने के लिए वह जीव चेष्टा करता रहता है। इस प्रकार जीवमात्र किसी न किसी दुःख से पीड़ित होकर, उससे छुटकारा पाने के लिए और आनन्द को प्राप्त करने के लिए सदैव चिन्तित रहता है और जब तक दुःख से सब दिन के लिए छुटकारा नहीं पाता तथा परमानन्द की प्राप्ति उसे नहीं होती तब तक वह इस भवचक्र में घूमता ही रहता है और जन्म-मरण के पाश से छुटकारा नहीं पाता।

यही बातें दर्शन-शास्त्र के सम्बन्ध में भी कही जा सकती हैं। दर्शन-शास्त्र के अनुसार प्रत्येक दर्शन में कहे गये तत्त्वों के ज्ञान को प्राप्त करने में भी जीव उसी परम आनन्द को ढूँढ़ता रहता है। जिस प्रकार कोरक से क्रमशः फूल का विकास होता

है, उसी प्रकार मूढ़ अवस्था से क्रमशः ज्ञान का भी विकास होता है। खान में छिपे हुए रत्न का कुछ भी मूल्य नहीं होता, किन्तु शाण पर चढ़ाकर उसके स्वरूप को क्रमशः विकसित करने से वही रत्न अमूल्य हो जाता है। ज्ञान की मूढ़ावस्था से आरम्भ कर, जिसका विवेचन करने वाले 'चार्वाक' कहलाते हैं, क्रमशः उस परंपरा की अनेक सीढ़ियों को पार करने के पश्चात् वही ज्ञान पूर्ण विकसित होकर परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त कर **'एकमेवाद्वितीयं नेह नानाऽस्ति किञ्चन', 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'**, आदि उपनिषद् के वाक्यों में कहा गया अद्वितीय तत्त्व हो जाता है, जिसका शंकराचार्य ने तथा काश्मीरीय शैव-दर्शन ने प्रतिपादन किया है। इस अद्वितीय तत्त्व अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार करने पर वह जीव अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करता है। यही है जीवात्मा तथा परमात्मा का अभेद। किसी घर की चारों दिवालों के गिर जाने से जिस प्रकार घर के अन्दर घिरा हुआ आकाश घर के बाहर के आकाश के साथ एक हो जाता है, उसी प्रकार जीवात्मा के अविद्यारूपी आवरण के दूर होने पर जीवात्मा परमात्मा के साथ एक हो जाता है और 'पूर्ण', या 'अखण्ड' कहा जाता है, और तब इन दोनों में जो अविद्या के कारण भेद रहता है उसका नाश हो जाता है। इस अखण्ड एवं पूर्ण स्वरूप का नाश नहीं होता। इस अवस्था को प्राप्त करने के पश्चात् जीव का कभी अधःपतन नहीं होता। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जीवन तथा दर्शन दोनों का मुख्य उद्देश्य एक ही है और वह है 'परमानन्द' या उसकी प्राप्ति। इसे ही चरम दुःख-निवृत्ति या 'मोक्ष' कहते हैं। इसी को परमात्मा, परब्रह्म, आत्मा या ब्रह्म कहते हैं। यही है 'देखने का विषय'। अतएव श्रुति में कहा गया है—**'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।'**

परम तत्त्व को देखने का उपाय

दुःखनाश के साधन

इसलिए संसार के लौकिक तथा वैदिक साधनों से दुःख की चरम निवृत्ति को न पाकर दुःख के नाश के अन्य साधनों को ढूंढ़ता हुआ जिज्ञासु जब किसी ज्ञानी से पूछता है कि वह कौन-सी वस्तु है जिसके देखने से, अर्थात् पाने से सब दिन के लिए दुःख से छुटकारा मिल जाता है ? तो उसके उत्तर में ज्ञानी कहता है—'अरे ! आत्मा को देखो', और उसके देखने का उपाय है 'श्रवण', 'मनन' तथा 'निदिध्यासन'। तत्त्वज्ञानी से, या श्रुतियों के द्वारा, आत्मा के सम्बन्ध में सभी बातें अनेक बार सुननी चाहिए। पूर्व-जन्म या इस जन्म की साधना के कारण जिस किसी का अन्तःकरण भाग्यवश परिशुद्ध हो गया

हो और उसमें पूर्ण श्रद्धा हो, तो उसे उसी क्षण परम तत्त्व की प्राप्ति हो जायगी। विलम्ब होने का तो कोई कारण ही नहीं है। इसीलिए भगवान् ने गीता में कहा है—**'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्'**। किन्तु ऐसे श्रद्धालु अत्यन्त विरल हैं। अतः श्रुति के द्वारा आत्मा के सम्बन्ध में सुनी हुई बातों के ऊपर युक्तियों के द्वारा 'तर्क' करना चाहिए। कुतर्कों से दूर रहना चाहिए। श्रुति के द्वारा सुनी हुई बातों को सत्तर्क से प्रमाणित करना चाहिए और जब श्रवण तथा मनन इन दोनों साधनों के द्वारा जिज्ञासु एक ही निर्णय पर पहुँचता है तभी ज्ञानी के उपदेश में उसे विश्वास होता है और जिज्ञासु अपनी खोज में विश्वासपूर्वक अग्रसर होता है।

परम तत्त्व के साक्षात्कार से मुक्ति

परन्तु यह पहले भी कहा गया है कि वस्तुतः 'प्रत्यक्ष' ही एकमात्र प्रमाण है जिसके द्वारा हमें यथार्थ में परम तत्त्व का साक्षात्कार हो सकता है। 'तर्क' भले ही युक्तियों से समर्थित हो, फिर भी 'तर्क' तो केवल 'बुद्धि' पर निर्भर है। बुद्धि की इयत्ता न होने के कारण किसी भी तर्क को एक अन्य सूक्ष्म तर्क करने वाला व्यक्ति अपनी सूक्ष्म बुद्धि के बल से खण्डन कर उसे अप्रमाणित सिद्ध कर सकता है और उसके स्थान में भिन्न प्रकार के दूसरे सिद्धान्तों की स्थापना कर सकता है। इस बात को प्रमाणित करने के लिए पाश्चात्य देश के वैज्ञानिक या दार्शनिक, तर्कमात्र पर स्थिर किसी भी सिद्धान्त को हम ले सकते हैं, जो केवल तर्क के ऊपर निर्भर होने के कारण एक के बाद दूसरे तार्किकों से खण्डित कर दिया गया है और अब भी खण्डित किया जाता है। न्यूटन के ऐटोमिक सिद्धान्त का आज क्या स्थान है और कौन कह सकता है कि आइनस्टाइन के भी सिद्धान्त कब तक अपने स्थान को स्थिर रख सकते हैं? जिस दिन कोई इनसे अधिक बुद्धिमान् तार्किक उत्पन्न होगा, सम्भव है, वह अपनी तीक्ष्णतर बुद्धि से पहले के सिद्धान्तों को अप्रमाणित सिद्ध कर एक दूसरा ही सिद्धान्त उनके स्थान में स्थापित कर दे। इससे यह स्पष्ट है कि केवल 'तर्क' के द्वारा किसी वास्तविक परम तत्त्व तक पहुँचने में हम समर्थ नहीं हो सकते। इसीलिए कठोपनिषद् में कहा गया है—

'नैषा तर्केण मतिरापनेया'

इसी बात को भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में कहा है—

'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥'

यही सिद्धान्त **'तर्काप्रतिष्ठानात्'** इत्यादि ब्रह्मसूत्र के भाष्य में शंकराचार्य ने भी प्रतिपादित किया है।

उपर्युक्त कथन से यह निश्चित कर लेना कि परम तत्त्व के साक्षात्कार के लिए 'तर्क' का कोई भी प्रयोजन नहीं है, अत्यन्त अनुचित है। 'तर्क' का एक स्वतंत्र स्थान है। उसके द्वारा प्रमाणों की पुष्टि होती है। इसलिए श्रवण और मनन के द्वारा प्राप्त सिद्धान्त का 'निदिध्यासन', अर्थात् 'सूक्ष्म दृष्टि के द्वारा परीक्षा' या साक्षात्कार कर लेना परम आवश्यक है। यदि उपर्युक्त तीनों साधनों के द्वारा एक ही निर्णय पर हम पहुँचें, तो उस निर्णय को हमें प्रामाणिक मानना चाहिए। इन्हीं तीनों उपायों के द्वारा हमें आत्मा का दर्शन या साक्षात्कार होता है और तभी हम अपने जीवन के चरम लक्ष्य तक पहुँचते हैं। यही तो भारतीय दर्शन-शास्त्र का भी परम ध्येय है। इन्हीं तीनों साधनों को हम क्रमशः 'आगम' या 'आप्तवाक्य', 'तर्क' तथा साक्षात् 'अनुभव' कहते हैं।

तर्क की आवश्यकता

अधिकारी बनने की आवश्यकता

ऊपर कहा जा चुका है कि दर्शन का परम ध्येय है—परमानन्द की प्राप्ति। क्या सभी सब अवस्थाओं में इसकी प्राप्ति कर सकते हैं? उत्तर में यह कहना पड़ता है कि सभी जीव इसकी प्राप्ति करने के 'अधिकारी' नहीं हैं। प्राप्त करना तो बहुत दूर है, दुःख से व्याकुल रहने पर भी साधारण तौर पर भी लोगों की दृष्टि इस परम पद की ओर नहीं जाती। विरले ही ऐसे भाग्यवान् हैं जो इस पद को पाने के लिए प्रयत्न करते हैं। यही बात कठोपनिषद् में कही गयी है—

अधिकारी को ज्ञान या परमानन्द की प्राप्ति

'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः, शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः'

अतएव उस परम पद को पाने के लिए हमें उसका 'अधिकारी' बनना चाहिए। जब तक जीव वास्तविक अधिकारी नहीं बनेगा, तब तक उस ज्ञान की प्राप्ति वह नहीं कर सकता। उसकी रक्षा करना तो दूर की बात है। जिस प्रकार अच्छी तरह परिष्कृत किये हुए खेत में ही बीज बोया जाता है, और फिर सभी खेत सभी प्रकार के बीज के लिए उपयुक्त भी नहीं होते, तथापि यदि बलात् एक अनुपयुक्त खेत में बीज बोया जाय तो उसमें अंकुर ही न निकलेगा, उसी प्रकार साधक

के लिए सर्वप्रथम अपने अन्तःकरण को परिशुद्ध करना अत्यन्त आवश्यक है। परिशुद्ध तथा योग्य अन्तःकरण में ही जिज्ञासु बीजरूपी उपदेश को धारण करने में समर्थ हो सकता है और तभी उससे लाभ उठा सकता है, अन्यथा ज्ञानी के उपदेश ऊसर भूमि में बोये हुए बीज के समान नष्ट हो जायँगे। अधिकारी बनने के नियमों का पालन करने से जीव राग-द्वेष आदि दोषों से विमुक्त होकर परम तत्त्व को पाने का अधिकारी हो जाता है। अधिकार के अनुसार ही उपदेश देने से या शास्त्र की बातों को समझाने से, जिज्ञासु को वास्तविक लाभ होता है, उपदेश भी निरर्थक नहीं होता एवं उपदेश देनेवाले ज्ञानी को भी सन्तोष होता है। दिन-रात एक साथ रहते हुए भी भगवान् ने कुरुक्षेत्र की समर-भूमि में उपस्थित होने के पूर्व, अधिकारी न रहने के कारण ही, अर्जुन को श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश न दिया। युद्ध के क्षेत्र में खड़े हुए अर्जुन ने जब अपने अहंकार का परित्याग कर **'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'**—भाव को भगवान् के प्रति प्रकट किया, अर्थात् वस्तुतः अधिकारी बने तभी भगवान् ने अर्जुन को पारमार्थिक तत्त्व का उपदेश किया।

आक्षेप और उनका परिहार

हमारा वर्त्तमान जीवन कितना भी घृणित और दुःखी क्यों न हो, फिर भी हम सन्मार्ग पर चलते हुए जिस प्रकार अपने भविष्य के जीवन को उज्ज्वल और सुखमय बनाने की आशा करते हैं और इसी कारण विविध धार्मिक कार्य करते हैं, उसी प्रकार भारतीय दर्शन संसार के दुःखमय जीवन से विरक्ति को दिखाता हुआ क्रमशः भविष्य के प्रकाश और आनन्दमय अवस्था के मार्ग में हमें अग्रसर करता है। ज्यों-ज्यों इस मार्ग में हम अग्रसर होते हैं, त्यों-त्यों हमारे अन्तःकरण का अनादि कर्म और वासनाओं से उत्पन्न मल दूर होता जाता है और क्रमशः ज्ञान विकसित होने लगता है तथा परम आनन्द का आभास मिलने लगता है।

भारतीय दर्शन का लक्ष्य

इस मार्ग में निराशा का कोई स्थान नहीं है, प्रयत्न में विफल होने की कोई आशंका नहीं है तथा एक जन्म में प्रयत्न करने पर भी परम पद की प्राप्ति नहीं हुई और बीच ही में मर गये तथा जो कुछ प्राप्त किया था वह भी चला गया, अग्रिम जन्म में पुनः इसी जन्म की तरह दुःखी होना पड़ेगा, इत्यादि दुर्भावनाओं का भी कोई स्थान नहीं है। अपने अधिकार के अनुसार साधन के द्वारा जो कुछ ज्ञान

जीव एक जन्म में प्राप्त कर लेता है, उसका नाश मरने से नहीं होता। वह ज्ञान तो जीवात्मा के साथ-साथ एक जर्जर शरीर को छोड़ कर दूसरे नवीन शरीर में चला जाता है और दूसरे जन्म में वह जीव पूर्व जन्म के उस संचित ज्ञान के आगे ज्ञान के मार्ग में अग्रसर होता है। यह तो ज्ञानियों का अनुभूत विषय है। भगवान् ने भी गीता में कहा है—

'नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति'।
'तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन'॥(६।४३)

अन्धविश्वास

कुछ लोगों का आक्षेप है कि भारतीय दर्शन में 'अन्धविश्वास' का ही प्राधान्य है और दार्शनिक विद्वान् आँख मूँद कर जो कुछ वेद या अन्य प्राचीन ग्रन्थों में लिखा है, उसे ही मानना अपना ध्येय रखते हैं। उससे थोड़ा-सा भी विचलित होना परम अनुचित समझते हैं। अतः भारतीय दर्शन में मौलिकता नहीं है और न कहीं युक्ति का ही स्थान है।

यह आक्षेप निर्मूल है। पहले कहा गया है कि दार्शनिक तत्त्वों को समझने के साधन श्रवण, मनन और निदिध्यासन हैं। इन तीनों में 'मनन' का स्थान किसी प्रकार संकुचित नहीं है। श्रुति तथा तत्त्व-ज्ञानियों का साग्रह और सानुरोध आदेश है कि युक्तियों के द्वारा जब तक किसी उपदेश या आगम या आप्तवाक्य के सम्बन्ध में पूर्ण विचार कर निर्णय न कर लिया जाय तब तक किसी भी कथन को स्वीकार न करना चाहिए। जो कुछ हमें वेद में या शास्त्र में उपदेशरूप में या सिद्धान्त के रूप में मिलता है, अथवा जो कुछ हम अपने गुरु के मुख से साक्षात् सुनते हैं, उसे तभी स्वीकार करना उचित है जब हमें उसके तथ्य के सम्बन्ध में कोई भी शंका न रह जाय। राग, द्वेष, आवेश या दुराग्रह को छोड़कर सत्तर्क के नियमों के अनुसार उस कथन पर पूरा विचार करना चाहिए। हाँ, इसमें एक बात है कि पाश्चात्य दार्शनिकों की तरह हम केवल तर्क पर ही निर्भर नहीं रह सकते, जैसा पहले कहा जा चुका है। तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली में स्नातक को उपदेश देते हुए आचार्य कहते हैं—'हे स्नातक! हमने जो-जो अच्छे कर्म किये हैं, उन्हीं का तुम अनुसरण करना। मेरे निन्दनीय कर्मों का अनुसरण कभी न करना।' क्या इससे यह स्पष्ट नहीं है कि जिज्ञासु को अन्ध होकर किसी सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने

से आचार्य मना करते हैं ? उपनिषदों के अध्ययन से हमें पता चलता है कि उपनिषदों की मुख्य देन है—'तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति के लिए अच्छे प्रकार से 'तर्क' करना'। हमारे शास्त्र में राग-द्वेष-रहित 'तर्क' का बहुत ऊँचा स्थान है। शास्त्रों में

तत्त्वों का साक्षात् अनुभव

सिद्धान्तरूप से तत्त्वों का प्रतिपादन तो है, किन्तु प्रत्येक जिज्ञासु के लिए साधनों के द्वारा उन तत्त्वों का साक्षात् अनुभव करना आवश्यक है। दृष्टिकोण के भेद से एक अनुभव दूसरे अनुभव से भिन्न होता है, यह तो उचित ही है।

भारतीय दर्शन की प्रगतिशीलता

ऋषियों के सिद्धान्तों से हमें केवल परम पद के मार्ग का पता लगता है, किन्तु ज्ञान या परम पद की प्राप्ति तथा दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति तो तभी होगी, जब हम उस मार्ग पर चल कर उस परम पद का साक्षात् अनुभव प्राप्त करें। श्रुतियों में कहा गया है कि 'आत्मा' व्यापक, नित्य, चित् और आनन्द है। जिज्ञासु इसे प्रतिज्ञा-वाक्य की तरह स्वीकार कर उसका साक्षात्कार करने के लिए आगे बढ़ता है। इस प्रक्रिया से इतना लाभ होता है कि जिज्ञासु प्रत्येक पद पर स्वयं समझ सकता है कि वह कितना अग्रसर हुआ है और कितनी दूर अभी और उसे जाना है, अन्यथा वह केवल विचार-समुद्र में तथा निविड़ अन्धकार में भटकता ही रह जायगा और किसी निश्चित तत्त्व का कुछ भी पता न लगा सकेगा। इस प्रकार यह देखा जाता है कि प्रत्येक भारतीय दर्शन पूर्ण 'प्रगतिशील' होता हुआ भी ज्ञान-मार्ग में स्थिर होकर अपने अधिकार के अनुसार क्रमशः आगे बढ़ता है।

दर्शनों का वर्गीकरण

अनादि काल से संसार में दुःख है और दुःख की निवृत्ति के लिए बड़े-बड़े ऋषियों ने बहुत तपस्याएँ की हैं। बाह्य और आभ्यन्तर साधनों के द्वारा ज्ञानी लोग अपनी-

दर्शन-शास्त्र का स्वरूप

अपनी तपस्या में सफल भी हुए हैं। परम तत्त्व के ज्योतिर्मय स्वरूप का उन लोगों ने साक्षात्कार किया है। अपने-अपने अनुभवों को शब्दों के द्वारा लोगों के कल्याण के लिए उन्होंने अपनी शिष्य-परम्परा को सिखलाया है। एक व्यक्ति-विशेष की दृष्टि के अनुसार जिस शास्त्र या ग्रन्थ में परम तत्त्व का साक्षात् प्रतिपादन किया गया हो तथा उस अनुभूति के साधन-मार्ग का निर्देश किया गया हो, वही एक 'दर्शन-शास्त्र' है। जिस व्यक्ति-विशेष ने अपनी दृष्टि से जिस स्वरूप का विशद प्रतिपादन किया, वह दृष्टि-

कोण तथा उसका साधन उस व्यक्ति-विशेष के या उस साधन के नाम से सम्बद्ध हुआ होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

दर्शनों में समन्वय

ऋषियों की ये अनुभूतियाँ व्यक्तिगत होने के कारण भिन्न-भिन्न होती हैं। ये भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से अनुभूत हैं। परन्तु हैं तो सभी एकमात्र परम तत्त्व के सम्बन्ध की; अतएव इनको समन्वय की दृष्टि से देखने से इनमें एक प्रकार से सोपान-परम्परा के रूप में परस्पर सम्बन्ध देख पड़ता है। ये विभिन्न अनुभूतियाँ हमें उपनिषदों में मिलती हैं। उपनिषद् ही भारतीय ज्ञान का तथा दार्शनिक विचारधाराओं का मूल ग्रन्थ है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि जिज्ञासु लोग अपनी-अपनी शंकाओं को लेकर ऋषियों के समीप आते थे और ऋषि लोग एक-एक करके उनकी शंकाओं को तर्क-वितर्क तथा अपनी अनुभूतियों के द्वारा दूर कर देते थे, तभी परम तत्त्व के वास्तविक स्वरूप का परिचय उन लोगों को मिलता था। ये विचारधाराएँ उपनिषदों के विषय हैं, ये ही उनकी विशेषताएँ हैं। ये शंकाएँ तथा इनके समाधान किसी एक क्रम से नहीं होते थे। इसलिए उपनिषदों में परवर्ती शास्त्रों की तरह कोई भी विचारधारा हमें एक किसी क्रम से नहीं मिलती। तत्त्व के स्वरूप का विभिन्न रूप से, भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से, प्रतिपादन तो सभी उपनिषदों में हमें मिलता है।

उपनिषदों की विशेषता

माया की विक्षेप-शक्ति का विस्तार प्रायः उन दिनों इतना अधिक नहीं था। अतएव जिज्ञासुओं का अन्तःकरण इतना मलिन न था जितना प्रायः आधुनिक काल में है। यही कारण मालूम होता है कि उपनिषदों के समय में जिज्ञासुओं को तत्त्व के सभी स्वरूपों को स्वयं समझने में कोई विशेष बाधा न होती थी। वे उन्हें आसानी से समझ लेते थे। अतएव उपनिषदों में सभी विचारधाराओं के रहने पर भी विचारों के क्रमबद्ध वर्गीकरण की अपेक्षा न हुई। उन्हें तत्त्व के सम्बन्ध में भिन्न दृष्टि से किये गये आक्षेपों के समाधान करने का तथा प्रतिपक्षियों के साथ तर्क-वितर्क करने का कोई विशेष अवसर न मिला। इसलिए उपनिषदों में कहे गये तत्त्व के स्वरूपों का विश्लेषण कर भिन्न-भिन्न क्रम से पृथक्-पृथक् उनके वर्गीकरण का प्रयोजन पहले नहीं हुआ। विषयों का वर्गीकरण तभी होता है, जब उनके समझने में कठिनाई होती है अथवा अन्य भी कोई प्रयोजन हो। जिस प्रकार घर में अनेक प्रकार के

दर्शनों के वर्गीकरण की आवश्यकता

युद्ध की सामग्री के रहने पर भी कोई युद्ध-काल के बिना उन वस्तुओं को एक क्रम से सुसज्जित नहीं करता और सभी सामग्री बिना किसी क्रम के अनेक स्थानों में पड़ी रहती है, उसी प्रकार विभिन्न दृष्टिकोण से साक्षात् देखे हुए हमारे सभी तत्त्व तब तक उपनिषदों में ही छिन्न-भिन्न रूप में पड़े थे, जब तक कि प्रतिपक्षियों का सामना हमें नहीं करना पड़ा।

प्रतिपक्षियों के कारण वर्गीकरण

किन्तु यह परिस्थिति बहुत दिनों तक न रह पायी। एक तो क्रमशः जिज्ञासुओं की भी बुद्धि मलिनतर हो चली थी तथा साथ-साथ बड़े कट्टर और तर्क-प्रवीण प्रतिपक्षियों का उदय हुआ। वेद के ऊपर आक्षेप होने लगे। वैदिक धर्म के विरुद्ध जनता में उपदेश दिये जाने लगे। प्रलोभन में पड़ कर समाज विचलित हो चला। इन विघ्नों को देख कर समय के अनुकूल वेद तथा वैदिक धर्म की रक्षा के लिए उपनिषदों में से तत्त्वों को खोज कर आक्षेपों के समाधान के लिए भिन्न-भिन्न सामग्री एकत्र की गयी। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से तत्त्वों को शृंखलाबद्ध करने का प्रयत्न होने लगा। तत्त्वों के विचारों को समन्वय की दृष्टि से, सोपान-परम्परा के रूप में शृंखलाबद्ध बना कर, प्रतिपक्षियों के साथ तर्क-वितर्क करने के लिए सब तरह से आयोजन किया गया। ये सभी बातें एक प्रकार से पुनः उपनिषदों के पश्चात् क्रमशः

उपनिषदों के पूर्व का वर्गीकरण

देखने में आने लगीं। इस रूप में तत्त्वों को समझने में जिज्ञासुओं को विशेष आयास नहीं करना पड़ा। परवर्ती दार्शनिक सूत्रों के निर्माण का यही कारण हुआ। इसी संघर्ष के समय में दर्शनों का पुनः वर्गीकरण हुआ होगा, ऐसा अनुमान किया जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् के सातवें अध्याय में नारद और सनत्कुमार के संवाद से यह स्पष्ट है कि बहुत पूर्व-काल में ही, उपनिषदों के पहले भी, शास्त्रों का वर्गीकरण अवश्य था, अन्यथा नारद शास्त्रों को पृथक्-पृथक् किस प्रकार गिना सकते थे? किन्तु उन शास्त्रों का क्या स्वरूप था इसका कुछ भी परिचय इस समय हमें नहीं मिलता। इस समय जितने दार्शनिक शास्त्र हैं उनका वर्गीकरण तो उपनिषदों के पश्चात् ही हुआ होगा, ऐसा अनुमान होता है। बौद्धों के साथ तर्क करने के लिए अक्षपाद गौतम ने 'न्यायसूत्र' की रचना की तथा वैदिक मन्त्रों के अभिप्राय को सुरक्षित रखने के लिए जैमिनि ने 'मीमांसा-सूत्र' की रचना की। इसी प्रकार अन्य दार्शनिक सूत्र-ग्रन्थों की भी रचना हुई होगी, ऐसा मालूम होता है।

अब प्रश्न यह है कि इस वर्गीकरण में कितने और कौन-कौन-से 'दर्शन' बने ? इस सम्बन्ध में **'षड्दर्शन'** का नाम हम लोग सुनते आ रहे हैं। परन्तु **'षड्दर्शन'** के अन्तर्गत कौन-कौन-से दर्शन गिने जाते हैं और जा सकते हैं, इसमें किन्हीं भी दो विद्वानों का एक मत नहीं है। दूसरी बात यह है कि यह **'षड्दर्शन'** शब्द बहुत पुराना नहीं है। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि दर्शनों की संख्या न तो कभी नियत रही और न नियत हो सकती है। जिस विद्वान् को जिन दर्शनों से प्रेम या विशेष परिचय था उन्होंने उन्हीं दर्शनों को **'षड्दर्शन'** के अन्तर्गत मान कर या अनियत संख्या में ही गिना कर, उनका विचार किया है। उदाहरण के लिए मैं कुछ विद्वानों के मतों का यहाँ उल्लेख कर देना उचित समझता हूँ।

दर्शनों की संख्या का निर्णय

दर्शनों की संख्या-परम्परा

पुष्पदन्त ने 'शिवमहिम्नःस्तोत्र' में सांख्य, योग, पाशुपत मत तथा वैष्णव; कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में सांख्य, योग तथा लोकायत; हयशीर्षपञ्चरात्र तथा गुरुगीता में गौतम, कणाद, कपिल, पतञ्जलि, व्यास तथा जैमिनि; 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' में शंकराचार्य ने लोकायत, आर्हत, बौद्ध (वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार एवं माध्यमिक), वैशेषिक, न्याय, भाट्ट और प्राभाकर मीमांसा, सांख्य, पतञ्जलि, वेदव्यास तथा वेदान्त; ग्यारहवीं सदी के पूर्ववर्ती जयन्त भट्ट ने मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, आर्हत, बौद्ध तथा चार्वाक; बारहवीं सदी के हरिभद्रसूरि ने अपने 'षड्दर्शन-समुच्चय' में बौद्ध, नैयायिक, कपिल, जैन, वैशेषिक तथा जैमिनि; तेरहवीं सदी के जिनदत्तसूरि ने अपने 'षड्दर्शनसमुच्चय' में जैन, मीमांसा, बौद्ध, सांख्य, शैव तथा नास्तिक; चौदहवीं सदी के राजशेखरसूरि ने जैन, सांख्य, जैमिनि, योग (न्याय), वैशेषिक तथा सौगत; प्रसिद्ध काव्यों के टीकाकार मल्लिनाथ के पुत्र ने पाणिनि, जैमिनि, व्यास, कपिल, अक्षपाद तथा कणाद; 'सर्वमतसंग्रह' के रचयिता ने मीमांसा, सांख्य, तर्क, बौद्ध, आर्हत तथा लोकायत; माधवाचार्य ने अपने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में चार्वाक, बौद्ध, आर्हत, रामानुज, पूर्णप्रज्ञ (माध्व), नकुलीश-पाशुपत, शैव, रसेश्वर, औलूक्य, अक्षपाद, जैमिनि, पाणिनि, सांख्य, पातञ्जल और शंकर; मधुसूदन सरस्वती ने 'सिद्धान्तबिन्दु' तथा 'शिवमहिम्नःस्तोत्र' की टीका में न्याय, वैशेषिक, कर्ममीमांसा, शारीरक-मीमांसा, पातञ्जल, पञ्चरात्र, पाशुपत, बौद्ध, दिगम्बर, चार्वाक, सांख्य और औपनिषद, इन दर्शनों के सम्बन्ध में नामोल्लेखपूर्वक विचार किया है।

दर्शनों की इन परिगणनाओं में न तो नामों में और न संख्या में ही हमें कहीं एक मत देख पड़ता है। ऐसी स्थिति में **'षड्दर्शन'** शब्द से क्या समझा जा सकता है? वस्तुतः इस शब्द का कोई भी विशेष अर्थ नहीं है। एक भी प्रामाणिक सिद्धान्त

दर्शन-संख्या का नियम

इस **'षड्दर्शन'** शब्द के आधार पर हम स्थिर नहीं कर सकते। विद्वानों के द्वारा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से स्वीकृत तर्क के नियमों के अनुसार तथा निदिध्यासन के नियमों के सहारे परम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक, उपक्रम और उपसंहार के सहित जो विचारधारा होगी, उसीको हमारा 'दर्शन' कहा जा सकता है। हमें तो एकमात्र विषय ध्यान में रखना चाहिए कि 'जिसके द्वारा परम तत्त्व को देखा जाय', वही 'दर्शन' है। इस प्रकार दृष्टि के भेद से अनेक 'दर्शन' हो सकते हैं। इनकी संख्या नियत नहीं हो सकती है।

दर्शनों में परस्पर सम्बन्ध

उपर्युक्त बातों से यह स्पष्ट है कि दर्शनों का एकमात्र लक्ष्य है दुःख की परम निवृत्ति या परम आनन्द की प्राप्ति। इसके लिए एक ही मार्ग है, दूसरा नहीं।

दर्शनों में समन्वय

इसीलिए जितने दर्शन हैं और हो सकते हैं, वे सब एक ही ज्ञान के पथ हैं। प्रत्येक दर्शन उस मार्ग की एक-एक सीढ़ी है। परम पद तक पहुँचने के लिए प्रत्येक सीढ़ी को पार करना ही होगा। आगे की सीढ़ी पर पैर रखने के लिए, पैर उठाने के पूर्व, पहली सीढ़ी पर दोनों पैरों को स्थिर कर लेना अत्यावश्यक है। एक सीढ़ी पर अपने पैरों को स्थिर करने के समय में चञ्चल दृष्टि से इधर-उधर के प्रलोभन में पड़कर यदि कोई जिज्ञासु जरा-सा भी हिल-डुल जाय, तो पैर फिसल जाने का पूरा भय है और फिर भविष्य अन्धकारपूर्ण है, इसे जिज्ञासु को कभी नहीं भूलना चाहिए। ये सीढ़ियाँ परस्पर सम्बद्ध हैं। नीचे की सीढ़ी पर स्थित जिज्ञासु ऊपर की सीढ़ी को देख नहीं सकते, किन्तु ऊपर वाले तो नीचे की सीढ़ी को आसानी से देख सकते हैं और उनके सम्बन्ध में विशेष आलोचना भी कर सकते हैं। किन्तु फिर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि ऊपर की सीढ़ी नीचे की सीढ़ियों के आधार पर ही तो स्थित है, अतएव ऊपर वालों को नीचे वालों का तिरस्कार करना उचित नहीं। नीचे के आधार को दृढ़ रखने के लिए तथा जिज्ञासु चञ्चल होकर आगे चलने के प्रलोभन में फँस कर नींव को दृढ़ बनाने में असमर्थ न हो जाय, इस आशंका से नीचे की सीढ़ी पर रहने वाले भी ऊपर के सम्बन्ध में विशेष आलोचना

करें तो कोई अनुचित नहीं है, किन्तु साथ ही साथ यह न भूलना चाहिए कि जाना तो है ऊपर की सीढ़ियों पर भी।

प्रत्येक सीढ़ी तत्त्व-ज्ञान के, अर्थात् परम पद के जिज्ञासुओं की बुद्धि का क्रमिक विकास और ज्ञान-मार्ग में पद-विन्यास का क्रम है। अपने-अपने अधिकार के अनुरूप जिज्ञासु भिन्न-भिन्न दर्शनों के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों को ही अपना आपेक्षिक लक्ष्य मान लेता है और जब उस आपेक्षिक तत्त्व का साक्षात् अनुभव उस जिज्ञासु को हो जाता है, तब वह उसमें परम पद को, अपने चरम लक्ष्य को, न पाकर पुनः उसकी खोज में आगे बढ़ता है और पहले से सूक्ष्मतर तत्त्व में पहुँचता है। इसी क्रम से यदि जिज्ञासु बढ़ता जाय तो किसी-न-किसी दिन परम पद पर पहुँच ही जायगा और उसके आगे गन्तव्य पद के न रहने के कारण, जीव वहीं स्थिर हो जायगा। वहाँ से पुनः उसे लौटने की कोई आवश्यकता नहीं, अतः वहाँ से जीव लौटता ही नहीं। यही मोक्ष है, यही आनन्द है, इसे ही दुःख की चरम निवृत्ति कहते हैं। यही हमारे दर्शनों का परम ध्येय है।

दर्शनों में क्रम

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए हमें यह मालूम होता है कि ये सभी दर्शन, चाहे आस्तिक हों या नास्तिक, परस्पर सापेक्ष हैं और इन में आगे की तरफ एक के बाद दूसरे का स्थान है। परम पद तक पहुँचने के लिए प्रत्येक दर्शन की नितान्त अपेक्षा है और ये सभी दर्शन एक ही सूत्र में बँधे हुए हैं। एक दूसरे के बिना अपने अस्तित्व का समर्थन ही नहीं कर सकते। आगे की अवस्था को समझने के लिए पूर्व-पूर्व की अवस्था का पूर्ण परिचय रखना नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार प्रत्येक दर्शन का दूसरे दर्शन के साथ समन्वय है। इन सब में कोई भी वास्तविक विरोध नहीं है तथापि एक दर्शन दूसरे दर्शन से अत्यन्त भिन्न है। दो दर्शन कभी भी एक ही मत का प्रतिपादन नहीं करते और न करना उचित ही है। फिर भी स्थूल दृष्टि वालों को दर्शनों में जो परस्पर विरोध मालूम होता है, उसका पहला कारण है समझने वालों का 'अज्ञान' और दूसरा है 'दृष्टिकोण का भेद'। पुष्पदन्त ने 'शिवमहिम्नःस्तोत्र' में दार्शनिक विचार को कितने सुन्दर शब्दों में कहा है—

दर्शनों में सापेक्षता

दर्शनों में दृष्टि-कोण के भेद से भेद

'रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां,
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।'

इन बातों से यह स्पष्ट है कि सभी दर्शनों में परस्पर पूर्ण सामञ्जस्य है और परमानन्द की प्राप्ति के लिए एक दूसरे के सहायक हैं। इन बातों के स्पष्टीकरण के लिए एक-दो उदाहरण यहाँ देना अनुपयुक्त न होगा।

सब से प्रथम उदाहरण के लिए 'आत्मा' के सम्बन्ध में जो कतिपय दर्शनों का विचार है, उसे हम अपने पाठकों के समक्ष रखते हैं। 'आत्मा' को सबसे ऊँचा स्थान लोग देते हैं। चैतन्य आत्मा का ही गुण या स्वरूप माना जाता है। हमारी क्रियाएँ या चेष्टाएँ सभी आत्मा के अधीन मानी जाती हैं। आत्मा स्वतन्त्र है, किसी के अधीन नहीं है। ये बातें प्रायः सभी दर्शन स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति में 'आत्मा' के स्वरूप का क्रमिक विकास किस प्रकार हमारे दर्शनों में, समन्वय के रूप में एक सूत्र में परस्पर सम्बद्ध हमें मिलता है, उसका दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है—

चार्वाक-भूमि

अत्यन्त मूढ़ बुद्धि वाले जीव, जिनके ज्ञान का एक प्रकार से अभी कुछ भी विकास नहीं हुआ है, अपने स्थूल शरीर से भी भिन्न अपने 'धन' को या 'पुत्र' को, **'आत्मा वै जायते पुत्रः'** इस कथन के अनुसार, 'आत्मा' मानते हैं। उस धन या पुत्र की वृद्धि या सुख में अपने को सुखी तथा विघटन या दुःख में दुःखी मानते हैं, यहाँ तक कि धन के नाश होने पर या पुत्र के मर जाने पर अपने को भी मृतवत् समझते हैं।

चार्वाक-दर्शन के अनुयायी 'आत्मा' का पूर्ववत् पृथक् अस्तित्व न मान कर कोई तो 'स्थूल शरीर' को, कोई उससे सूक्ष्म 'इन्द्रिय' को, कोई उससे भी सूक्ष्म 'प्राण' को और कोई 'मन' को ही 'आत्मा' मानते हैं। इन सब के मत में 'आत्मा' है तथा जड़ है, और भिन्न-भिन्न जड़ पदार्थों के सम्मिश्रण से उसमें 'चैतन्य' उत्पन्न होता है। जिस प्रकार कुछ द्रव्यों के एकत्र करने से उस मिश्रित पदार्थ में एक प्रकार की मादकता-शक्ति उत्पन्न होती है, यद्यपि उस मिश्रित पदार्थ के प्रत्येक द्रव्य में पृथक् रूप से किसी एक में भी वह शक्ति न थी, उसी प्रकार उस भौतिक पदार्थ में चैतन्य उत्पन्न होता है। 'चैतन्य' आत्मा का स्वाभाविक स्वरूप नहीं है। जैसे कत्था, चूना और पान के पत्तों में प्रत्येक में लाल रंग उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है, किन्तु उनके

एक विशेष प्रकार के सम्मिश्रण से लाल रंग उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार पृथिवी, जल, तेजस्, वायु और आकाश इन पाँचों पदार्थों के एक विशेष सम्मिश्रण से 'चैतन्य' उत्पन्न हो जाता है और इस सम्मिश्रण में विघटन होते ही उसमें चैतन्य नहीं रहता और वह आत्मा भी नहीं रहता।

समन्वय-दृष्टि से भारतीय दर्शनों का ज्ञान

जिस प्रकार कोरक से क्रमशः विकसित होकर फूल बाहर देख पड़ता है, उसी प्रकार अन्तःकरण से क्रमशः विकसित होकर हमें 'ज्ञान' बाहर देख पड़ता है। ज्ञान के क्रमिक विकास के भिन्न-भिन्न स्तर के साथ-साथ हमारे दृष्टिकोण का भी क्रमिक भेद होता है। क्रमशः विकसित ज्ञान का प्रत्येक स्तर ही एक 'दर्शन' है। अतएव इन्हीं स्तरों पर समन्वय की दृष्टि से विचार करने से हमें भारतीय दर्शन के पूर्ण स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। इन्हीं स्तरों में प्रारम्भिक अवस्था में 'चार्वाक-दर्शन' का स्थान है। यह दर्शन अपनी सीमा के अन्तर्गत स्थूल शरीर से लेकर क्रमशः सूक्ष्म की तरफ अग्रसर होता हुआ इन्द्रिय, प्राण और मनस्-पर्यन्त पहुँच सका। यहीं तक इस दर्शन की सीमा है। अतएव स्थूल भौतिक स्वरूप को छोड़ कर तत्त्वों के सूक्ष्म स्वरूप का विचार चार्वाक-दर्शन में नहीं मिल सकता।

न्याय-वैशेषिक-भूमि

ज्ञान के क्रमिक विकास के साथ-साथ जिज्ञासु को चार्वाक के सिद्धान्त से सन्तोष नहीं होता। इस सिद्धान्त से दुःख की चरम निवृत्ति नहीं हो सकती। साथ-साथ उन्हें यह भी अब मालूम होने लगा कि 'आत्मा' भौतिक पदार्थ से भिन्न है। इसका अस्तित्व स्वतन्त्र है। 'चैतन्य' आत्मा का एक स्वतन्त्र विशेष गुण है, यह भूतों से उत्पन्न नहीं हो सकता। इन भावनाओं को लेकर जिज्ञासु जब आगे खोज करता है, तब उसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'आत्मा' एक भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ है। इस स्तर पर पहुँच कर जिज्ञासु को स्वतन्त्र रूप में आत्मा के 'सत्' रूप का प्रथम बार ज्ञान होता है। इस स्तर के प्रतिपादन करने वाले 'नैयायिक' तथा 'वैशेषिक' कहलाते हैं और वह दर्शन 'न्याय-वैशेषिक' दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है।

इतना होने पर भी कुछ ऐसी बातें हैं जिनमें चार्वाक के साथ न्याय-वैशेषिक का बहुत विशेष अन्तर नहीं मालूम होता। जैसे, द्रव्यों में पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से चैतन्य न होने पर भी, उन्हीं जड़ द्रव्यों के संयोग से चैतन्य की उत्पत्ति चार्वाक मानते हैं, उसी प्रकार न्याय-वैशेषिक मत में 'आत्मा' एक भिन्न द्रव्य है और 'मनस्'

भी एक भिन्न द्रव्य है। इन दोनों में पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से चैतन्य नहीं है। वास्तव में ये दोनों द्रव्य 'जड़' हैं। फिर भी इन्हीं दोनों जड़ द्रव्यों के संयोग से 'चैतन्य' उत्पन्न होता है। हाँ, उस 'चैतन्य' का आश्रय 'आत्मा' है। मादकता-शक्ति या पान के राग के समान यह चैतन्य भी अधिक देर नहीं रहता। जिस प्रकार स्थूल शरीर का नाश होने के बाद, जिसे चार्वाक 'मोक्ष' कहते हैं, चैतन्य नहीं रहता, उसी प्रकार न्याय-वैशेषिक के मत में मोक्ष की अवस्था में आत्मा में चैतन्य नहीं रहता। इसीलिए श्रीहर्ष ने 'नैषधचरित' में नैयायिकों का उपहास किया है—

'गोतमो यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।'

इसी मत के समर्थन में किसी एक भक्त की प्राचीन उक्ति भी है—

'वरं वृन्दावनेऽरण्ये शृगालत्वं भजाम्यहम्।
न पुनर्वैशेषिकीं मुक्तिं प्रार्थयामि कदाचन॥'

सांख्य-भूमि

परम तत्त्व के जिज्ञासु को उपर्युक्त सिद्धान्तों से सन्तोष नहीं होता। इन तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने पर उसके मन में शंका होती है कि बिना कारण के कार्य नहीं होता। यदि आत्मा और मनस् में स्वभावतः चैतन्य नहीं है तो इन दोनों के संयोग से भी चैतन्य नहीं उत्पन्न हो सकता। फिर आत्मा और मनस् का संयोग होते ही आत्मा में चैतन्य कहाँ से आता है, इसे खोजना अत्यावश्यक है। इसका पता लगाने के लिए जिज्ञासु को सूक्ष्म दृष्टि की सहायता लेनी पड़ती है। बहिरिन्द्रिय के द्वारा इसका ज्ञान किसी को नहीं हो सकता। सूक्ष्म दृष्टि के द्वारा जिज्ञासु बौद्धिक (Psychic) जगत् में प्रवेश करता है। वहाँ उसे स्पष्ट देख पड़ता है कि जिसे अभी तक, अर्थात् न्याय-वैशेषिक-भूमि में वह 'आत्मा' समझता था, वास्तव में वह प्रकृति के सत्त्वगुण का एक विकार है, जिसे 'बुद्धि' या 'महत्' कहते हैं। यह बहुत शुद्ध है इसलिए 'चैतन्य' का प्रतिबिम्ब, जो परम तत्त्व से आता है, इस पर स्पष्ट पड़ता है और इसके प्रभाव से यह 'बुद्धि' चेतन की तरह मालूम होती है। वस्तुतः चैतन्य तो एक भिन्न पदार्थ है जिसे 'पुरुष' कहते हैं। यह त्रिगुणातीत और निर्लिप्त है। वास्तव में यही चैतन्य 'आत्मा' कहा जा सकता है और 'बुद्धि', जिसे स्थूल दृष्टि वाले 'आत्मा' समझते हैं, 'प्रकृति' का सात्त्विक विकार मात्र है और जड़ है।

यही सांख्य-दर्शन का क्षेत्र है। न्याय-वैशेषिक के जगत् से यह जगत् सूक्ष्म है और इसके अधिकांश तत्त्व चैतन्य से प्रतिबिम्बित बुद्धि के द्वारा जाने जाते हैं।

यहाँ इतना स्मरण करा देना अनुचित न होगा कि चार्वाक ने 'आत्मा' के स्वतन्त्र अस्तित्व को नहीं माना, न्याय-वैशेषिक ने सब से प्रथम इसका पृथक् अस्तित्व सिद्ध कर 'आत्मा' का 'सत्' होना जगत् को बताया और पश्चात् सांख्य ने उसके 'चित्' अंश का स्पष्टीकरण किया। यही ज्ञान के क्रमिक विकास का एक उदाहरण है। सांख्य-दर्शन का चरम सिद्धान्त है—'विवेक-बुद्धि के द्वारा कैवल्य की प्राप्ति, अर्थात् 'प्रकृति' और 'पुरुष' में अज्ञान के कारण जो विपरीत बुद्धि थी उसे दूर कर, पुरुष को प्रकृति के प्रभाव से मुक्त कर उसे अकेला कर देना ही' सांख्य का चरम उद्देश्य है। इसी को **'विवेक-ख्याति'** भी कहते हैं। इससे दुःख की निवृत्ति होती है। इस अवस्था में वास्तव में रजोगुण और तमोगुण को अभिभूत कर सत्त्वगुण अकेले पुरुष के साथ रह जाता है। इसी कारण कैवल्य प्राप्त करने पर भी अपने स्वरूप में स्थित द्रष्टा के समान 'पुरुष' प्रकृति को देखता है। **'प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः'**—(सांख्यकारिका ६५) यह 'देखना' सत्त्वगुण का धर्म है। रजोगुण तथा तमोगुण से एक प्रकार से स्थूल रूप में अलग हो जाने के कारण इस सत्त्वगुण को 'शुद्धसत्त्व' या 'खण्डसत्त्व' कहते हैं। इसी सत्त्वगुण के संपर्क में रहने के कारण अभी भी पुरुष (आत्मा) के वास्तविक अखण्ड और अद्वितीय स्वरूप का ज्ञान जिज्ञासु को नहीं हुआ है। परन्तु यह अद्वितीय स्वरूप के ज्ञान को प्राप्त करना सांख्य की भूमि के बाहर है। उसके लिए और भी सूक्ष्म स्तर में प्रवेश करना आवश्यक है।

शांकर वेदान्तभूमि

यही 'शुद्धसत्त्व' अब 'माया' के नाम से प्रसिद्ध हो जाता है। यह भी तीनों गुणों से युक्त है। 'शांकर वेदान्त' में इसे 'विशुद्ध-सत्त्वप्रधाना माया' कहा है। इसके प्रभाव से अभी भी परम तत्त्व का वास्तविक स्वरूप ढका हुआ है। यह माया विचित्र है। न तो यह परम पुरुष 'ब्रह्म' के समान 'सत्' है और न खरहे के सींग की तरह 'असत्' है। इसलिए शांकर वेदान्त में इसे 'अनिर्वचनीय' कहा है। यह अपने वैचित्र्य के कारण समस्त जगत् की सृष्टि करती है। ऐसी स्थिति में भी यह शंकर के अद्वैत में बाधा नहीं करती। यह शंकर के लिए भले ही ठीक हो, परन्तु जिज्ञासु इस 'माया' के प्रभाव से 'ब्रह्म' के वास्तविक स्वरूप का परिचय प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता और इसी लिए दुःख से आत्यन्तिक निवृत्ति भी उसे नहीं मिलती है। अतएव वह इससे छुटकारा पाने के लिए 'माया' को अच्छी तरह से समझने के लिए और भी सूक्ष्म दृष्टि से सूक्ष्म जगत् में प्रवेश करता है।

विशेष खोज करने पर जिज्ञासु को यह मालूम हो जाता है कि 'कला', 'विद्या', 'राग', 'काल' तथा 'नियति' इन पाँच तत्त्वों से 'माया' घिरी हुई है। ये माया के 'कञ्चुक' कहे जाते हैं। इनका भेद करने पर 'माया' से छुटकारा मिलता है और ब्रह्मरूप 'पुरुष' तब 'शुद्धविद्या' के रूप में रह जाता है। इस अवस्था में 'पुरुष' अपने को सूक्ष्म प्रपञ्च के साथ बराबर का समझने लगता है, जैसे 'मैं यह हूँ'। यहाँ 'मैं' और 'यह' दोनों बराबर महत्त्व के हैं। अभी भी द्वैत स्पष्ट है। अतएव जिज्ञासु अद्वैत की खोज में पुनः अग्रसर होता है। इसके अनन्तर वह पुरुष उस सूक्ष्म प्रपञ्च के साथ तादात्म्य बोध करता है और 'यह मैं हूँ', ऐसा जीव को अनुभव होने लगता है। इस परिस्थिति में 'यह' को प्राधान्य दिया गया है। इस अवस्था में उस पुरुष या आत्मा को 'ईश्वरतत्त्व' कहते हैं। अब धीरे-धीरे 'यह' अंश 'मैं' में लीन हो जाता है और 'मैं हूँ' ऐसी प्रतीति जीव की रह जाती है। फिर भी द्वैत का भान स्पष्ट है—'मैं' और 'हूँ'। इस अवस्था को 'सदा शिवतत्त्व' कहते हैं।

काश्मीरीय शैवदर्शन-भूमि

अब इस 'हूँ' को भी दूर करना आवश्यक है। इसके अनन्तर जिज्ञासु इससे भी सूक्ष्म भूमि में प्रवेश करता है तो उसे केवल 'अहं प्रत्यय' अर्थात् 'मैं' देख पड़ता है। इसे 'शक्ति-तत्त्व' कहते हैं। इसी अवस्था में परम तत्त्व का उन्मीलन होता है और जिज्ञासु को 'परम तत्त्व' के वास्तविक स्वरूप का परिचय प्राप्त होता है। यहीं आत्मा के 'आनन्द' रूप का प्रथम बार भान होता है। यही शक्ति और शक्तिमान् की मिलनावस्था है। यह अवस्था द्वैत है या अद्वैत, यह कहना कठिन है। यह द्वैत भी है और अद्वैत भी है। यहीं परम पवित्र और परिशुद्ध केवल 'आनन्द' का बोध होता है। जिस समय 'आनन्द' का बोध होता है उस समय तो 'द्वैत' है, किन्तु जिस समय बोध नहीं रहता, वह अवस्था 'अद्वैत' है। इस आनन्द का आस्वादन मात्र होने पर भी उसका पता किसी को नहीं रहता। यह परम शान्त अवस्था है। अन्त में यह भी अवस्था परम तत्त्व में लीन हो जाती है और उसका 'परम शिवतत्त्व' के नाम से काश्मीरीय शैव-दर्शन में विचार किया गया है।

यहाँ पहुँच कर जिज्ञासु की जिज्ञासा की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति भी हो जाती है। यही 'गन्तव्य पद' है। यही 'परम तत्त्व' है और दर्शन-शास्त्र का तथा जीवन का चरम लक्ष्य है। इसके आगे कुछ भी नहीं रह जाता। सूक्ष्म प्रपञ्च भी चिन्मय 'परम शिवमय' हो जाता है। इस

पद को प्राप्त कर जिज्ञासु का पृथक् अस्तित्व भी नहीं रहता। यहीं जीवन-यात्रा समाप्त होती है। अब जन्म-मरण कुछ भी नहीं रहता और अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति हो जाने से कर्म की गति भी यहीं शान्त हो जाती है। यहीं 'सत्', 'चित्' और 'आनन्द' का सामञ्जस्य तथा सामरस्य है। यही भारतीय दर्शन, जीवन, धर्म और कर्म सभी का चरम लक्ष्य है। इसी के लिए भारतीय दर्शन और धर्म इतने व्यापक हैं और अनादि काल से अनेक आघातों को सहते हुए अब भी भारतीयों के हृदय में आदर्श का स्थान प्राप्त करते हैं।

इसी परम तत्त्व का 'माण्डूक्य उपनिषद्' में—

'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्, अदृश्यम्, अव्यवहार्यम्, अग्राह्यम्, अलक्षणम्, अचिन्त्यम्, अव्यपदेश्यम्, एकात्मप्रत्ययसारम्, प्रपञ्चोपशमम्, शान्तम्, शिवम्, अद्वैतम्, चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।'

इन शब्दों में निरूपण किया है। यहीं आत्मा का वास्तविक साक्षात्कार होता है।

'आत्मा' के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करने के लिए किस प्रकार जिज्ञासु को स्थूल जगत् से क्रमशः सूक्ष्म, सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम एवं चिन्मय जगत् में प्रवेश करना पड़ता है, यह उपर्युक्त बातों से स्पष्ट है। ज्ञान के इस क्रमिक विकास में कहीं भी विरोध नहीं है और न शास्त्रों में वास्तविक परस्पर कोई वैमनस्य है। स्थूल दृष्टि वालों को तथा दृष्टिकोण के भेद को न समझने वालों को भेद और विरोध भले ही मालूम हो, किन्तु वस्तुतः कहीं भी भेद या विरोध नहीं है। सामञ्जस्यपूर्वक एक से दूसरे का निरवच्छिन्न सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता। हाँ, दृष्टिकोण के भेद से तो भेद स्पष्ट है और इस भेद का रहना भी आवश्यक है। अन्तःकरण के शुद्ध हो जाने पर इस पद पर जो पहुँच जाता है वह फिर पीछे कभी भी नहीं लौटता। यही भारतीय दर्शन है। यही भारतीय जीवन-यात्रा है। इसे प्रत्येक जीव को चरम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए स्वयं अनुभव करना होता है, आँख से देखना पड़ता है।

अन्त में एक और बात कह देना आवश्यक है। भारतीय दर्शन के अन्तर्गत यद्यपि है तो 'दर्शन' का प्राधान्य, किन्तु ज्ञान के विकास के साथ-साथ परम पद तक पहुँचने के लिए 'कर्म' की भी पूर्ण अपेक्षा है। अन्तःकरण के मल को दूर कर उसे

पवित्र तथा निर्मल बनाना है, इसके लिए 'कर्म' की परम आवश्यकता है। 'कर्म' के बिना ज्ञान का उदय नहीं हो सकता और फिर ज्ञान के बिना उचित 'कर्म' भी नहीं हो सकता। ज्ञान और कर्म इन दोनों के सहारे जिज्ञासु अपनी यात्रा में सफल होता है। अतएव परम पद पाने के लिए 'दर्शन' के क्षेत्र में 'कर्म' का उतना ही महत्त्व है जितना 'ज्ञान' का। इसीलिए सदाचार का पालन करना, अपने कायिक, वाचिक तथा मानसिक विचारों को परम पद पाने के योग्य बनाना, शास्त्रों में कहे गये साधारण तथा असाधारण धर्मों का पालन करना, आहार को शुद्ध रखना, पीने की वस्तु को भी अपवित्र वस्तु के सम्बन्ध से दूषित न होने देना, इत्यादि सभी नियमों का परम पद की प्राप्ति के लिए जिज्ञासु अवश्य पालन करें। इसी के साथ-साथ यह भी न भूलना चाहिए कि बिना 'भक्ति' के, बिना आत्मसमर्पण के न तो ज्ञान ही प्राप्त होता है और न कर्म करने में प्रवृत्ति ही होती है। अतएव तत्त्व-जिज्ञासु को अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए ज्ञान, कर्म तथा भक्ति इन तीनों में पूर्ण सामञ्जस्य रखना परम आवश्यक होता है। इस प्रकार 'दर्शन' को समझने के लिए हमें संसार के सभी विषयों को जानना पड़ता है। इसीलिए दर्शनों में स्थूल 'जगत्' का भी विचार है।

इसी स्वरूप को विभिन्न दर्शनों में हम देखते हैं। अब भारतीय शास्त्रों के आदि ग्रन्थ 'वेद' से प्रारम्भ कर क्रमशः दर्शनों के विकास पर हम आगे विचार करेंगे।